Printed by
RAMZAN ALI SHAH at the National Press,
Allahabad.

# विषय-सूची

# पद्म-वन

## १—उपक्रम

लाल रणजीतसिंह न रहे। जीवन और मृत्यु की इस लीला-भूमि में किसी की मृत्यु का समाचार सुन कर कोई क्षुब्ध नहीं होता। काल के गर्भ में अनंत जीवन-धाराएँ लुप्त होती रहती हैं। तब एक जल-बिंदु के निपात से किसका गात्र कंपित हो सकता है? परंतु आज मुझे ज्ञान पड़ता है कि मानो मुझे वृद्धावस्था ने आकर घेर लिया है। मेरे देखते ही देखते एक-एक कर कितने ही लोग चले गये। न जाने कहाँ, किस लोक में, एकत्र होकर वे सब मेरी राह देख रहे हैं। क्या कभी उनसे फिर भेंट होगी?

लाल रणजीतसिंह इलाहाबाद आये थे। उन दिनों मैं जैन-बोर्डिंग के सामने एक छोटे से मकान में रहता था। वहीं लाल साहब आकर ठहर गये। उन्हीं दिनों मेरे दो मित्र भी आये हुए थे। एक थे 'रमेश' और दूसरे थे 'महेश'। एक साहित्य-शास्त्र के आचार्य थे और दूसरे दर्शन-शास्त्र के। प्रतिदिन दोनों में विवाद हुआ करता था। लाल साहब उपन्यासों के प्रेमी थे। उन्हें भी साहित्य-चर्चा पसंद थी। वे भी एक दिन उसी विवाद में सम्मिलित हो गये। आज यहाँ मैं उसी की बात लिख रहा हूँ।

संध्या हो गई थी। मैं 'इंडियन प्रेस' से काम करके घ
लौटा। महेश और रमेश दोनों बैठे बातें कर रहे थे। मेरे आ
पर लाल साहब भी आकर वहीं बैठ गये और महेश से कह
लगे—मैं आज एक उपन्यास पढ़ रहा था। वह है तो प
विख्यात लेखक की कृति, पर उसे पढ़ कर मुझे विशेष प्रसन्न
नहीं हुई। मुझे जान पड़ता है कि आधुनिक कथा-साहित्य र
से हीन होता जा रहा है। आजकल उपन्यासों में चरित्रों व
सृष्टि के लिये उतनी चिंता नहीं की जाती, जितनी चरित्र-ग
विशेषता का विश्लेषण करने के लिये की जाती है।

महेश ने कहा—पर सत्य के अनुसंधान से ही आनंद
उपलब्धि होती है और चरित्र-वैचित्र्य का विश्लेषण करने से
हम सत्य को जान सकते हैं।

रमेश ने कहा—यहीं तुम भूल कर रहे हो। जीवन व
रासायनिक पदार्थ नहीं है, जिसका विश्लेषण कर आप त
निकाल सकें। मनुष्य को खंड खंड कर देखने से हम क
उसके जीवन का रहस्य नहीं जान सकते। वह जैसा है, वै
ही, समग्र भाव से ही, उस पर विचार करना चाहिये। ज
जीवन की संपूर्णता है, वहीं दृष्टि-पात करने से हम जीवन
यथार्थ तत्व जान सकेंगे। इसलिये प्राचीन काल में महत् चरि
की सृष्टि की जाती थी। पर आज कल उपन्यासों में व्यक्ति
वैचित्र्य को स्पष्ट करने के लिये यत्न किया जाता है।

लाल साहब ने कहा—संसार में छोटे-बड़े सभी तरह
मनुष्य रहते हैं। वे सदैव महत्वपूर्ण कार्यों में निरत नहीं रह
अधिकांश का जीवन-काल ऐसे ही कार्यों में व्यतीत होता
जो तुच्छ कहे जाते हैं। मनुष्य अपने जीवन में सुख-दुख
अनुभव करता है। कभी वह किसी से प्रेम करता है तो क

किसी से घृणा करता है। वह काम, क्रोध, मद, लोभ और
के चक्र में पड़ा रहता है। मनुष्य का यह दैनिक जीवन
उपेक्षणीय है?

रमेश ने उत्तर दिया—तुच्छ कार्यों में निरत रहने पर
मनुष्य इतना अवश्य अनुभव करता है कि उसका जीवन इत
ही नहीं है। उसके हृदय में यह विश्वास छिपा रहता है कि
कुछ और भी है। उस कुछ और को प्राप्त करने की चेष्टा भी व
करता है। इसीलिये वह जब किसी में किसी प्रकार की महत्त
देखता है, तब वह उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह शक्ति की
महत्ता को समझता है। इसलिये वह शक्ति का अनुभव करन
चाहता है। तब मनुष्यों में शक्ति के जो जो प्रतिनिधि होते हैं
वे सभी उसकी कल्पना के विषय हो जाते हैं। यह सच है कि
सभी समय में मनुष्य किसी एक में ही शक्ति की पराकाष्ठा या
महत्ता का आदर्श नहीं देखता। उसका यह आदर्श बदलता
रहता है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि महत् भाव की ओर
मनुष्यों को अग्रसर कराने के लिये ही साहित्य की सृष्टि होती
है। यदि साहित्य में केवल चरित्र-गत विशेषताओं का विश्लेषण
किया गया तो उससे हम लोगों में कोई महत् भाव नहीं
आ सकता।

महेश ने कहा—कथाओं के प्रति मनुष्य-मात्र का जो
अनुराग है उसका कारण यह है कि एक मनुष्य स्वभावतः दूसरे
को जानना चाहता है। पहले उसे कौतूहल होता है, फिर
सहानुभूति। असाधारणता से केवल कौतूहल का उद्दीपन होता है।
परंतु सहानुभूति के लिये साधारण बातें ही चाहिये। इसीलिये
जिन कथाओं में असाधारण, विस्मयकर घटनाओं का विवरण
होता है उनसे पाठकों का विनोद भले ही हो, पर उनसे उनके
हृदय में सहानुभूति का भाव जाग्रत नहीं हो सकता। सच तो

यह है कि मनुष्य के चरित्र में जहाँ दुर्बलता है वहीं हम लोगों में सहानुभूति उत्पन्न होती है। महत्ता से केवल विस्मय, आतंक या भक्ति आदि का उद्रेक भले ही हो, परंतु पाठक उस महत्ता को अपना नहीं सकता। इसीलिये जो उच्चकोटि के लेखक हैं वे अपने पाठकों को असाधारण घटनाओं के फेर में नहीं डालना चाहते। वे उन्हें अपने प्रतिदिन के सुख-दुख की बातें बतलाते हैं। इन्हीं से पाठकों की सहानुभूति जाग्रत होती है। अच्छे लेखकों की रचनाओं का सबसे अच्छा लक्षण यह है कि उन्हें पढ़ते समय हम तन्मय हो जाते हैं। सत्य सदैव सरल, सुंदर और साधारण होता है। अतएव उनकी रचनाओं में सत्य की सरल और सुंदर छवि आती है। उन्हीं के प्रति हमारा अनुराग होता है। जो लोग कथाओं से केवल कौतूहलोद्दीपन चाहते हैं, उनके लिये सत्य के ये सरल चित्र चित्ताकर्षक नहीं होते। परंतु पाठकों के हृदय पर ऐसे चित्रों का प्रभाव पड़ता है।

रमेश ने कहा—जब जाति की शक्ति क्षीण होने लगती है तभी वह महत्ता की ओर अग्रसर नहीं होती और तभी वह महत्ता में असाधारणता का अनुभव करती है। जब किसी जाति का उत्थान होता है तब उसमें एक दैवी शक्ति सी आ जाती है। और तब वह असाधारणता की प्राप्ति के लिये ही उत्सुक होती है। सच तो यह है कि इसी कारण से साहित्य का स्वरूप परिवर्तित होता है और भिन्न-भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मानव-समाज के उत्थान-पतन के साथ उसके आदर्श भी उच्चकोटि अथवा निम्नकोटि के होते हैं। वाल्मीकि और व्यास के युग में साहित्य का जो आदर्श था, वह कालिदास के युग में न रहा। और न कालिदास का आदर्श मुगल-काल में रह सका। आधुनिक युग में दूसरे ही आदर्श ग्रहण किये जाते

हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि हिंदू-जाति भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अतिक्रमण करती आई है। कथाओं में मानव-जीवन की चिरंतन घटनाएँ और उनकी उच्चतम अभिलाषाएँ छिपी रही हैं। सच तो यह है कि इन्हीं कथाओं के द्वारा हम किसी भी जाति की जीवनधारा की गति निर्दिष्ट कर सकते हैं।

प्राचीन काल में सभी देशों के साहित्य में हम विराट् भावों की प्रधानता देखते हैं। ये विराट् भाव जाति में तब प्रचलित हुए जब उसमें विजय के लिये असीम उत्साह था। प्राचीन काल में राजा ही मानवीय शक्ति का प्रतिनिधि होता था। वही जाति का गौरव-स्थल था। अतएव वही जाति का आदर्श था। इसीलिये सभी देशों के प्राचीन साहित्य में राजा का ही वर्णन है। राजा को आदर्श मानकर मनुष्यों ने उसी में अपनी समस्त इच्छाओं का चरम परिणाम देखना चाहा। ये राजा सबसे अधिक रूपवान् हैं। उनमें शक्ति भी असाधारण है। मनुष्यों में जो सर्वोच्च गुण हो सकते हैं, उन सबके वे आगार हैं। यह सब कुछ होने पर भी इन कथाओं में किसी भी राजा का जीवन सुखमय नहीं है। बात यह है कि सु[illegible] और विलास उन्नतिशील जाति के लिये तुच्छ है। वह जा[illegible] है कि उन्नति के मार्ग पर कितने ही विघ्न और बाधाएँ है[illegible] कितने ही संकट और विपत्तियाँ हैं। उन्हीं सबका अतिक्र[illegible] करने पर जाति उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचती है[illegible] इसीलिए प्राचीन कथाओं के सभी नायकों को विपत्तियों [illegible] सामना करना पड़ा है। उनके शत्रु भी विकट थे। परंतु अं[illegible] में उन्होंने सभी शत्रुओं को पराभूत कर दिया। संकट में [illegible] नायक कभी धैर्यच्युत नहीं हुए। प्रलोभन में पड़कर कभी इनकी मति भ्रष्ट नहीं हुई। जब तक किसी जाति का साम्राज्य स्थापित

नहीं हुआ, तब तक उसमें ऐसे ही आदर्श प्रचलित रहे।
बाद धर्म की महिमा से महीयान् व्यक्तियों के आदर्श स्व
हुए। जब तक धार्मिक भाव प्रबल रहे तब तक ये धा
आदर्श भी प्रचलित रहे। आधुनिक युग में एक ओर संश
वस्था है और दूसरी ओर विलास-प्रियता। जो विज्ञान
प्रकृति के रहस्य-द्वार का उद्घाटन करने के लिये प्रयत्नः
था, वह अब मानव-जाति की विलास-सामग्री ढूँढ़ने में त
है। न जाति में वह अदम्य उत्साह है और न वह प्रबल श
इसलिये विराट् चरित्रों की सृष्टि लोगों को असाधारण मा
पड़ती है। मार्लो और शेक्सपीयर के नाटकों में इंगलैं
विजयोल्लास और दर्प के चित्र है। परंतु आधुनिक नाटक
समाज की हीनावस्था के चित्र अंकित होते हैं।

महेश ने कहा—तुमने जो कहा वह केवल सत्यांश है, स
सत्य नहीं है। मनुष्यों को अपने जीवन के आरम्भकाल मे
अपने पुरुषार्थ से एक अलक्षित शक्ति के साथ युद्ध करना प
पद-पद पर उसने उस अलक्षित शक्ति का अनुभव कि
जब उसने प्रकृति की सारी शक्तियों को वशीभूत कर नि
वन में विशाल नगरी स्थापित कर ली—ऐसे नगर जहां वप
अट्टहास और तड़ित् के उग्र विलास में भी वह निःशंक हो
शक्ति के द्वारा आत्मविनोद करता था और ग्रीष्म के प्रचंड उ
में वह निर्भय हो कर विहार करता था—तब भी उस अलि
शक्ति के सम्मुख उसे नतमस्तक होना पड़ा। पुराणों में तार
सुर की कथा मनुष्य-जाति के इसी पराभव की सूचना देती
तारकासुर ने समस्त देवों को परास्त कर अपने राजभव
उनको दास बनाकर छोड़ा था। उसकी आज्ञा के विपरीत
न वायु चल सकती थी, न सूर्य प्रकाश दे सकता था औ
इन्द्र वर्षा कर सकता था। परंतु उसे भी उस दुर्जय शत्रु से

खानी पड़ी। उसी शक्ति से वह पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने अंत में उसका संहार कर डाला। पुराणों में जो कथायें वर्णित हैं, उन सब का लक्ष्य एकमात्र यही है। वह यह कि मनुष्य एक अलक्षित शक्ति से सर्वथा वशीभूत है। उसका सारा पुरुषार्थ उसके आगे व्यर्थ हो जाता है। वही उसका भाग्य है, वही उसकी नियति है। एक कथा में यह कहा गया है कि हिरण्यकश्यपु ने तपस्या द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न कर उससे यह वर माँगा कि वह देव, मनुष्य और पशु तीनों के लिए अवध्य हो, जल और स्थल पर न मारा जा सके, दिन और रात्रि में उसकी मृत्यु न हो। इस प्रकार वर माँग कर वह मानो इस अलक्षित शत्रु को भी परास्त कर देना चाहता था। परंतु नियति ने उसका उपहास करके उसे उससे मरवाया, जो न मनुष्य था, न देव था, न पशु था। था वह नृसिंह। न जल पर उसकी मृत्यु हुई, न स्थल पर। मृत्यु हुई उस नृसिंह के अंक पर। न दिन में वह मरा, न रात में। उसकी मृत्यु हुई संध्या में। सभ्यता के आदि काल में सभी देशों के मनुष्यों ने उस अलंघनीय, अदम्य, दुर्जेय शक्ति का अनुभव किया। ग्रीक साहित्य का आदि काव्य 'इलियड' तो केवल नियति की ही कथा है। उसमें मनुष्यों की प्रचंड शक्ति, अदम्य उत्साह, सभी कुछ वर्णित है। परंतु उन सबके अंत में ट्राय की निर्जन समर-भूमि में एक-मात्र नियति अट्टहास करती हुई दिखाई देती है और चारों ओर मनुष्यों का केवल हाहाकार ही सुनाई पड़ता है। प्राचीन युग में मनुष्य-जाति को बाह्य प्रकृति से विशेष प्रतिरुद्ध होना पड़ा। जब तक उसने अपनी अंतरात्मा की महत्ता न देखी, तब तक वह प्रकृति से पराभूत होने पर अदृश्य शक्ति की महिमा को स्वीकार करती रही। परंतु जब उसने अपनी अन्तःशक्ति का अनुभव कर लिया तब बाह्य प्रकृति की शक्ति उसे तुच्छ

मालूम होने लगी। धर्म की महिमा से महीयान् मध्य-युग के संतों ने अंतरात्मा की विभूति का दर्शन करा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में अदृष्टवाद की जगह धर्म की अलौकिकता ने प्रधानता प्राप्त कर ली। यह संभव है कि वह शक्ति सांसारिक शक्ति के द्वारा पराभूत हो जाय, परंतु उसकी महिमा सांसारिक महिमा को अतिक्रमण कर एक अलौकिक जगत् में अपनी अचल गरिमा स्थापित करती थी। उस समय उस शक्ति का पराभव कभी संभव न था। वह सत्य की शक्ति थी, वह धर्म की शक्ति थी, इसलिए मध्य-युग की कथाओं में महान् आत्माओं की गाथाएँ हैं, सर्वसाधारण की कथाएँ नहीं। आधुनिक युग में मनुष्य-मात्र में उसी शक्ति का अनुभव कर कवियों ने साधारण मनुष्यों को ही अपनी रचनाओं में नायक का स्थान प्रदान किया है। नीच हो या क्षुद्र, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जिसके अंतर्जगत् में उस ज्योतिर्मय शक्ति का लीला न दिखाई पड़ती हो। साधारण मनुष्य के दैनिक जीवन में भी, उनके साधारण सुख-दुख और पाप-पुण्य के क्रिया-कलापों में भी जीवन की एक संपूर्णता है, जिससे समस्त विश्व में एक ही सत्ता का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

मैंने कहा—आधुनिक साहित्य में विराट् चरित्रों की अथवा महान् भावों की प्रधानता क्या संभव ही नहीं है? तुम लोगों के विवाद से तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कवि केवल अपने युग की एक वस्तुमात्र है, मानो उसकी कोई स्वतंत्र इच्छा-शक्ति है ही नहीं। मेरी समझ में तो जिनमें प्रतिभा है, वे लौकिक चरित्रों की सृष्टि अवश्य करते हैं। वाल्मीकि हों या होमर, कालिदास हों या शेक्सपीयर, स्काट हों या बंकिमचंद्र, चरित्रों की सृष्टि में ही उनका विशेष कर्तृत्व प्रकट

होता है। यदि प्राचीन काल के कवियों में प्रतिभा थी तो आधुनिक काल के कवियों में प्रतिभा का अभाव नहीं हो गया। मैं तो यह समझता हूँ कि आधुनिक उपन्यासों का रहस्य जानने के लिये हमें प्राचीन कथाओं का अनुसंधान नहीं करना पड़ेगा। आधुनिक साहित्य में कथाओं का एक दूसरा ही रूप हो गया है। उसका स्थान भी उच्च हो गया है। सच तो यह है कि प्राचीन काल में महाकाव्यों का जो स्थान था उसे अब आधुनिक उपन्यासों ने ले लिया है। प्राचीन महाकाव्यों और आधुनिक उपन्यासों में जो भेद है वह केवल रूप का भेद है। लक्ष्य दोनों का एक ही है। यह सच है कि महाकाव्य में जिन बातों का समावेश होता था, उनको अब कोई भी उपन्यासकार अपने उपन्यास में स्थान नहीं दे सकता। यदि वह ऐसा करे तो उसकी कथा का रस ही नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार यदि महाकाव्यों में उन बातों को स्थान दिया जाय जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन उपन्यासकार किया करते हैं, तो उस महाकाव्य का कोई महत्त्व ही न रह जायगा। बात यह है कि विषय महत् होने पर भी उपन्यासकार की कला के साधन कुछ दूसरे ही होते हैं। अतएव यह कहना चाहिये कि प्राचीनकाल से लेकर आज तक आप लोगों ने जिस वस्तु का विकास बतलाया है, वह केवल रूप का विकास है, वस्तु का विकास नहीं। रूप के लिये हम दूसरों का आश्रय ग्रहण करते हैं, परंतु वस्तु हमलोगों की अनुभूति का फल है। वाल्मीकि ने रामचरित्र का वर्णन किया है और तुलसीदास तथा केशवदास ने भी रामचंद्र की कथायें लिखी हैं। विषय एक है। रूप भी एक है—क्योंकि तीनों ने महाकाव्य ही लिखे हैं—परंतु भेद उनमें प्रत्यक्ष है और उसका एकमात्र कारण है उनकी पृथक्-पृथक् अनुभूति।

महेश ने कहा—आप एक दूसरी ही बात की चर्चा करते

हैं और हम लोगों का विवाद कुछ और ही था। परंतु आपके इस कथन के विरुद्ध भी मैं कुछ कहना चाहता हूँ। साहित्य में कार्य-कारण का नियम उतना ही व्यापक है जितना वाह्य जगत् में। कवि शून्यता से सामग्री नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिये एक विशेष वाह्य स्थिति की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि साहित्य अपने काल के मानसिक विकास का चित्र है। हम लोगों के विवाद का मुख्य विषय यह विकास ही था। प्राचीन युग, मध्य युग और आधुनिक युग में किन किन भावों की प्रधानता होने के कारण साहित्य में किस किस आदर्श की सृष्टि हुई और उन आदर्शों के द्वारा जाति की कितनी उन्नति या अवनति हुई, अभी हम लोगों के विवाद का विषय यही था।

मैंने कहा—वर्तमान साहित्य की एक विशेषता उसका आदर्श भी है। वर्तमान साहित्य का आदर्श है उन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को हल करना है, जिनके कारण सर्वत्र अशांति फैली हुई है। आधुनिक साहित्य में तीन प्रकार के आदर्श स्वीकृत हुए हैं—रियलिस्ट, आइडियालिस्ट और रोमिंटिसिस्ट। संसार में जो घटनाएँ प्रतिदिन होती हैं, उनका यथार्थ चित्रण करना रियलिस्ट कला-कोविदों का काम है। ऐसे लेखकों की रचना पढ़ते समय यही ज्ञान पड़ता है कि मानो हमने यह दृश्य स्वयं कहीं देखा है। यही नहीं, किंतु उनके पात्रों के चरित्रों में हम अपने परिचित व्यक्तियों के जीवन का सादृश्य देख लेते हैं। आइडियालिस्ट लेखक एक आदर्श चरित्र के उद्घाटन की चेष्टा करते हैं। संसार की दैनिक घटनाओं में वे ऐसे भावों का समावेश करते हैं कि उनसे अपूर्व चित्र खिंच उठता है। यह चित्र पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालता है। पाठक अपने अनुभव द्वारा कवि के आदर्श

की उच्चता को स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे लेखक सत्य का बहिष्कार नहीं करते। वे संसार की दैनिक घटनाओं से ही अपनी कथा के लिये सामग्री का संग्रह करते हैं। परंतु उनकी कृतियों में घटनाओं का ऐसा विन्यास किया जाता है कि उनमें कुछ भी अलौकिकता या असाधारणता ज्ञात नहीं होती। पाठकों के मनमें यही बात उदित होती है कि ऐसा हमने देखा तो नहीं है, पर देखना अवश्य चाहते हैं। रोमेंटिक साहित्य कल्पना की सृष्टि है। उसमें साधारण घटनाओं में भी एक असाधारणता का अनुभव कराया जाता है। आधुनिक साहित्य में इन तीनों आदर्शों का समावेश हो रहा है। मेरी समझ में यह मानना भ्रमपूर्ण है कि आधुनिक साहित्य में रियालिज्म की ही प्रधानता है। आधुनिक साहित्य का मुख्य उद्देश्य यही जान पड़ता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की रक्षा कर, समाज के साथ उसका नैसर्गिक—यथार्थ—संबंध स्थापित कर दिया जाय। जो कृत्रिम, अश्रेयस्कर व्यवधान हैं, वे नष्ट कर दिये जायँ। इसीसे आधुनिक साहित्य में वर्तमान काल की सभ्यता के अंधकारमय भाग पर पर्दा डाल कर छिपाने की चेष्टा नहीं की जाती और उसी के साथ यह बात भी प्रकट कर दी जाती है कि वह किस प्रकार ज्योतिर्मय हो सकता है।

महेश ने कहा—मैं भी यही कहना चाहता हूँ। आधुनिक साहित्य में मैं किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। यह सच है कि पहले जैसे विराट् चरित्रों की सृष्टि होती थी, वैसी सृष्टि अब नहीं होती। आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह देश-काल में आबद्ध होकर वे संकीर्ण विचारों के नहीं रहे हैं। उनमें यथेष्ट स्वतंत्रता आ गई है। पहले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमें प्रेम-घृणा आदि भावों का जैसा संघर्षण होता

था, वही लीला हम शेक्सपीयर आदि की रचनाओं में देखते हैं। परंतु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिये हमें रोमियो-जूलियट अथवा एन्टोनी-क्लियोपेट्रा की सृष्टि करनी नहीं होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आजकल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही एक सौन्दर्य-वृत्ति है, जिसमें समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण हो गया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ओथेलो के समान सरल नहीं है। वह बड़ा जटिल हो गया है। 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' नामक उपन्यास में विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि उसके पात्रों में जहाँ एक ओर नीच प्रवृत्ति है, वहीं दूसरी ओर दिव्य भावों की प्रधानता है। जार्ज मेरीडिथ के 'दी ईगोइस्ट' का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका और न उसके साथी ही। उपन्यास भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवीन्द्र बाबू के 'घर-बाहर' नामक उपन्यास में संदीप के चरित्र में भी यही जटिलता है। सच यह है कि आधुनिक उपन्यासों के चरित्र ऐसे अंकित किये गये हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तब तो हमें उनके चरित्र में हीनता दिखाई देती है। पर सत्य की ओर लक्ष्य रख कर देखने से यही कहना पड़ता है कि उनमें उज्ज्वलता भी है। वर्तमान युग परीक्षा का युग है। आधुनिक साहित्य में सत्य और तथ्य का अपूर्व सम्मिलन हो गया है। सच्ची बात यह है, रमेश बाबू, कि अतीत का चित्र सौम्य हो आकर्षक रहता है। जो कुछ होता है उसे काल मधुर कर देता है। इसी से अतीत से तुलना करने पर हमें वर्तमान गौरवपूर्ण प्रतीत नहीं होता। सत्य की परीक्षा से [illegible] कल्पना के विलास-विभ्रम का आश्रय मत लीजिए।

लाल साहब ने कहा—आपका कहना सर्वथा उचित है। कल्पना-द्वारा कम से कम उदरपूर्ति की संभावना नहीं है और मेरे लिए सब से अधिक आवश्यक यही है। बख्शी जी, आप देख तो आइये कि अब कितनी देर है। अगर अधिक देर हो तो कल्पना का आश्रय लेकर हम लोग क्षुधा को कुछ देर और रोक रक्खें।

लाल साहब ने इस प्रकार उस दिन विवाद का अंत कर दिया।

---

# २—भाषा और साहित्य

एक दिन महेश ने मुझसे पूछा—आजकल आपके हिंदी-साहित्य-जगत् में भाषा के संबंध में यह कैसा विवाद हो रहा है? क्या आप लोग यह नहीं चाहते कि हिंदू-मुसलमान की एक भाषा हो?

मैंने कहा—मेरा तो यह कथन है कि हिन्दी हिंदू-जाति की भाषा है। यह एक प्रदेश की नहीं, समस्त देश की भाषा है। यह बात उसके नाम से, हिंदी-शब्द से ही, सूचित होती है। हिंदी का अर्थ है हिंदू-जाति की भाषा। सच्ची बात यह है कि हिंदी उस प्रदेश की भाषा है जो प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय सभ्यता का प्रधान केन्द्र-स्थान रहा है। हिंदू-जाति के प्रायः सभी तीर्थ इसी देश में हैं। सभी प्रांतों के निवासी और सभी धर्मों के अनुयायी यहाँ आते जाते रहते हैं। यही कारण है कि हिंदी-भाषा से भारत के प्रायः सभी लोग परिचित हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा इसका क्षेत्र भी विस्तृत है। बंगाल से लेकर पंजाब तक और कश्मीर से लेकर विन्ध्याचल के दूसरे भाग तक यही भाषा।
इसीसे भारतीय भाषाओं में समस्त देश की, हि
भाषा यही कही जा सकती है।

वैदिक काल की प्राकृत भाषा का ही परिमार्जित रूप है। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी। वह देववाणी थी। साहित्य में उसका रूप स्थिर हो गया। परंतु सर्वसाधारण में जो भाषा प्रचलित थी उसका विकास होता गया। उसी से अन्य प्राकृत भाषायें उत्पन्न हुईं। इन प्राकृत भाषाओं में मुख्य है महाराष्ट्रीय, शौरसेनी और मागधी। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने इन्हीं प्राकृत भाषाओं में लोगों को उपदेश दिये थे। बौद्ध-युग में पाली अर्थात् मागधी की विशेष वृद्धि हुई। जैनों के धार्मिक ग्रंथ अर्ध मागधी में लिखे गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं इन भाषाओं ने भी साहित्य में स्थायी रूप धारण कर लिया। इन्हीं प्राकृतों से स्वाभाविक नियमानुसार अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। शौरसेनी और अर्ध मागधी की अपभ्रंश भाषाओं से हिंदी-भाषा की उत्पत्ति हुई है। इसलिये हिंदी-भाषा में हिंदू-जाति के सभी संस्कार विद्यमान हैं। अतएव देश की भाषा वही है।

महेश ने कहा—परंतु आपके काव्यों की भाषा तो एक नहीं है। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हिंदी भाषा अपने उत्पत्ति-काल से लेकर आजतक एक ही रूप में स्थिर बनी रही है?

मैंने कहा—नहीं, मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है। भाषा का सदैव विकास होता है, परन्तु उस विकास के मूल में जाति की भावना बीज-रूप में सदैव विद्यमान रहती है। जैसे वृक्ष अपनी पुष्टि के लिये वाह्य जगत् से आवश्यक रस लेकर उसे अपना लेता है, उसी प्रकार भाषा भी अन्य विदेशी शब्दों को आत्मसात् कर लेती है। हिंदी का प्राचीनतम ग्रंथ पृथ्वीराजरासो है। विद्वानों की राय है कि उन दिनों काव्यों में पछाहीं भाषा का प्रयोग किया जाता था। बात यह थी कि उन दिनों भारत में

# २—भाषा और साहित्य

एक दिन महेश ने मुझसे पूछा—आजकल आपके हिंदी-साहित्य-जगत् में भाषा के संबंध में यह कैसा विवाद हो रहा है? क्या आप लोग यह नहीं चाहते कि हिंदू-मुसलमान की एक भाषा हो?

मैंने कहा—मेरा तो यह कथन है कि हिन्दी हिंदू-जाति की भाषा है। यह एक प्रदेश की नहीं, समस्त देश की भाषा है। यह बात उसके नाम से, हिंदी-शब्द से ही, सूचित होती है। हिंदी का अर्थ है हिंदू-जाति की भाषा। सच्ची बात यह है कि हिंदी उस प्रदेश की भाषा है जो प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय सभ्यता का प्रधान केन्द्र-स्थान रहा है। हिन्दू-जाति के प्रायः सभी तीर्थ इसी देश में हैं। सभी प्रांतों के निवासी और सभी धर्मों के अनुयायी यहाँ आते जाते रहते हैं। यही कारण है कि हिंदी-भाषा से भारत के प्रायः सभी लोग परिचित हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा इसका क्षेत्र भी विस्तृत है। गंडक से लेकर पंजाब तक और कमायूं से लेकर विन्ध्याचल के दूसरे भाग तक यही भाषा प्रचलित है। इसीसे भारतीय भाषाओं में समस्त देश की, हिन्दुस्तान की, भाषा यही कही जा सकती है।

वैदिक काल की प्राकृत भाषा का ही परिमार्जित रूप है। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी। वह देववाणी थी। साहित्य में उसका रूप स्थिर हो गया। परंतु सर्वसाधारण में जो भाषा प्रचलित थी उसका विकास होता गया। उसी से अन्य प्राकृत भाषायें उत्पन्न हुईं। इन प्राकृत भाषाओं में मुख्य है महाराष्ट्रीय, शौरसेनी और मागधी। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने इन्हीं प्राकृत भाषाओं में लोगों को उपदेश दिये थे। बौद्ध-युग में पाली अर्थात् मागधी की विशेष वृद्धि हुई। जैनों के धार्मिक ग्रंथ अर्ध मागधी में लिखे गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं इन भाषाओं ने भी साहित्य में स्थायी रूप धारण कर लिया। इन्हीं प्राकृतों से स्वाभाविक नियमानुसार अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। शौरसेनी और अर्ध मागधी की अपभ्रंश भाषाओं से हिंदी-भाषा की उत्पत्ति हुई है। इसलिये हिंदी-भाषा में हिंदू-जाति के सभी संस्कार विद्यमान हैं। अतएव देश की भाषा वही है।

महेश ने कहा—परंतु आपके काव्यों की भाषा तो एक नहीं है। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हिंदी भाषा अपने उत्पत्ति-काल से लेकर आजतक एक ही रूप में स्थिर बनी रही है?

मैंने कहा—नहीं, मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है। भाषा का सदैव विकास होता है, परन्तु उस विकास के मूल में जाति की भावना बीज-रूप में सदैव विद्यमान रहती है। जैसे वृक्ष अपनी पुष्टि के लिये वाह्य जगत् से आवश्यक रस लेकर उसे अपना लेता है, उसी प्रकार भाषा भी अन्य विदेशी शब्दों को आत्मसात् कर लेती है। हिंदी का प्राचीनतम ग्रंथ पृथ्वीराजरासो है। विद्वानों की राय है कि उन दिनों काव्यों में पछांहीं भाषा का प्रयोग किया जाता था। बात यह थी कि उन दिनों भारत में

# २—भाषा और साहित्य

एक दिन महेश ने मुझसे पूछा—आजकल आपके हिंदी-साहित्य-जगत् में भाषा के संबंध में यह कैसा विवाद हो रहा है? क्या आप लोग यह नहीं चाहते कि हिंदू-मुसलमान की एक भाषा हो?

मैंने कहा—मेरा तो यह कथन है कि हिन्दी हिंदू-जाति की भाषा है। यह एक प्रदेश की नहीं, समस्त देश की भाषा है। यह बात उसके नाम से, हिंदी-शब्द से ही, सूचित होती है। हिंदी का अर्थ है हिंदू-जाति की भाषा। सच्ची बात यह है कि हिंदी उस प्रदेश की भाषा है जो प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय सभ्यता का प्रधान केन्द्र-स्थान रहा है। हिंदू-जाति के प्रायः सभी तीर्थ इसी देश में हैं। सभी प्रांतों के निवासी और सभी धर्मों के अनुयायी यहाँ आते जाते रहते हैं। यही कारण है कि हिंदी-भाषा से भारत के प्रायः सभी लोग परिचित हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा इसका क्षेत्र भी विस्तृत है। बंगाल से लेकर पंजाब तक और कश्मीर से लेकर विन्ध्याचल के दूसरे भाग तक यही भाषा प्रचलित है। इसीसे भारतीय भाषाओं में समस्त देश की, हिन्दुस्तान की, भाषा यही कही जा सकती है।

महेश ने कहा—यही नहीं, हिंदी-भाषा के साथ प्राचीन [illegible] जाति का इतिहास निबद्ध है। प्राचीन काल में आर्यों की भाषा थी वैदिक भाषा। सर्वसाधारण में [illegible] के लिये जो भाषा व्यवहृत होती थी उसी को हम प्राकृत कहते हैं। आजकल जो भाषा संस्कृत कही जाती है वह

वैदिक काल की प्राकृत भाषा का ही परिमार्जित रूप है। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी। वह देववाणी थी। साहित्य में उसका रूप स्थिर हो गया। परंतु सर्वसाधारण में जो भाषा प्रचलित थी उसका विकास होता गया। उसी से अन्य प्राकृत भाषायें उत्पन्न हुईं। इन प्राकृत भाषाओं में मुख्य है महाराष्ट्रीय, शौरसेनी और मागधी। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने इन्हीं प्राकृत भाषाओं में लोगों को उपदेश दिये थे। बौद्ध-युग में पाली अर्थात् मागधी की विशेष वृद्धि हुई। जैनों के धार्मिक ग्रंथ अर्ध मागधी में लिखे गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं इन भाषाओं ने भी साहित्य में स्थायी रूप धारण कर लिया। इन्हीं प्राकृतों से स्वाभाविक नियमानुसार अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। शौरसेनी और अर्ध मागधी की अपभ्रंश भाषाओं से हिंदी-भाषा की उत्पत्ति हुई है। इसलिये हिंदी-भाषा में हिंदू-जाति के सभी संस्कार विद्यमान हैं। अतएव देश की भाषा वही है।

महेश ने कहा—परंतु आपके काव्यों की भाषा तो एक नहीं है। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हिंदी भाषा अपने उत्पत्ति-काल से लेकर आजतक एक ही रूप में स्थिर बनी रही है?

मैंने कहा—नहीं, मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है। भाषा का सदैव विकास होता है, परन्तु उस विकास के मूल में जाति की भावना बीज-रूप में सदैव विद्यमान रहती है। जैसे वृक्ष अपनी पुष्टि के लिये वाह्य जगत् से आवश्यक रस लेकर उसे अपना लेता है, उसी प्रकार भाषा भी अन्य विदेशी शब्दों को आत्मसात् कर लेती है। हिंदी का प्राचीनतम ग्रंथ पृथ्वीराजरासो है। विद्वानों की राय है कि उन दिनों काव्यों में पछाहीं भाषा का प्रयोग किया जाता था। बात यह थी कि उन दिनों भारत में

# २—भाषा और साहित्य

एक दिन महेश ने मुझसे पूछा—आजकल आपके हिंदी-साहित्य-जगत् में भाषा के संबंध में यह कैसा विवाद हो रहा है? क्या आप लोग यह नहीं चाहते कि हिंदू-मुसलमान की एक भाषा हो?

मैंने कहा—मेरा तो यह कथन है कि हिन्दी हिंदू-जाति की भाषा है। यह एक प्रदेश की नहीं, समस्त देश की भाषा है। यह बात उसके नाम से, हिंदी-शब्द से ही, सूचित होती है। हिंदी का अर्थ है हिंदू-जाति की भाषा। सच्ची बात यह है कि हिंदी उस प्रदेश की भाषा है जो प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय सभ्यता का प्रधान केन्द्र-स्थान रहा है। हिन्दू-जाति

वैदिक काल की प्राकृत भाषा का ही परिमार्जित रूप है। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी। वह देववाणी थी। साहित्य में उसका रूप स्थिर हो गया। परंतु सर्वसाधारण में जो भाषा प्रचलित थी उसका विकास होता गया। उसी से अन्य प्राकृत भाषायें उत्पन्न हुईं। इन प्राकृत भाषाओं में मुख्य है महाराष्ट्रीय, शौरसेनी और मागधी। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने इन्हीं प्राकृत भाषाओं में लोगों को उपदेश दिये थे। बौद्ध-युग में पाली अर्थात् मागधी की विशेष वृद्धि हुई। जैनों के धार्मिक ग्रंथ अर्ध मागधी में लिखे गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं इन भाषाओं ने भी साहित्य में स्थायी रूप धारण कर लिया। इन्हीं प्राकृतों से स्वाभाविक नियमानुसार अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। शौरसेनी और अर्ध मागधी की अपभ्रंश भाषाओं से हिंदी-भाषा की उत्पत्ति हुई है। इसलिये हिंदी-भाषा में हिंदू-जाति के सभी संस्कार विद्यमान हैं। अतएव देश की भाषा वही है।

महेश ने कहा—परंतु आपके काव्यों की भाषा तो एक नहीं है। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हिंदी भाषा अपने उत्पत्ति-काल से लेकर आजतक एक ही रूप में स्थिर बनी रही है?

मैंने कहा—नहीं, मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है। भाषा का सदैव विकास होता है, परन्तु उस विकास के मूल में जाति की भावना बीज-रूप में सदैव विद्यमान रहती है। जैसे वृक्ष अपनी पुष्टि के लिये बाह्य जगत् से आवश्यक रस लेकर उसे अपना लेता है, उसी प्रकार भाषा भी अन्य विदेशी शब्दों को आत्मसात् कर लेती है। हिंदी का प्राचीनतम ग्रंथ पृथ्वीराजरासो है। विद्वानों की राय है कि उन दिनों काव्यों में पछाहीं भाषा का प्रयोग किया जाता था। बात यह थी कि उन दिनों भारत में

# २—भाषा और साहित्य

एक दिन महेश ने मुझसे पूछा—आजकल आपके हिंदी-साहित्य-जगत् में भाषा के संबंध में यह कैसा विवाद हो रहा है? क्या आप लोग यह नहीं चाहते कि हिंदू-मुसलमान की एक भाषा हो?

वैदिक काल की प्राकृत भाषा का ही परिमार्जित रूप है। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी। वह देववाणी थी। साहित्य में उसका रूप स्थिर हो गया। परंतु सर्वसाधारण में जो भाषा प्रचलित थी उसका विकास होता गया। उसी से अन्य प्राकृत भाषायें उत्पन्न हुईं। इन प्राकृत भाषाओं में मुख्य है महाराष्ट्रीय, शौरसेनी और मागधी। भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने इन्हीं प्राकृत भाषाओं में लोगों को उपदेश दिये थे। बौद्ध-युग में पाली अर्थात् मागधी की विशेष वृद्धि हुई। जैनों के धार्मिक ग्रंथ अर्ध मागधी में लिखे गये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं इन भाषाओं ने भी साहित्य में स्थायी रूप धारण कर लिया। इन्हीं प्राकृतों से स्वाभाविक नियमानुसार अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। शौरसेनी और अर्ध मागधी की अपभ्रंश भाषाओं से हिंदी-भाषा की उत्पत्ति हुई है। इसलिये हिंदी-भाषा में हिंदू-जाति के सभी संस्कार विद्यमान हैं। अतएव देश की भाषा वही है।

महेश ने कहा—परंतु आपके काव्यों की भाषा तो एक नहीं है। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हिंदी भाषा अपने उत्पत्ति-काल से लेकर आजतक एक ही रूप में स्थिर बनी रही है?

मैंने कहा—नहीं, मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है। भाषा का सदैव विकास होता है, परन्तु उस विकास के मूल में जाति की भावना बीज-रूप में सदैव विद्यमान रहती है। जैसे वृक्ष अपनी पुष्टि के लिये वाह्य जगत् से आवश्यक रस लेकर उसे अपना लेता है, उसी प्रकार भाषा भी अन्य विदेशी शब्दों को आत्मसात् कर लेती है। हिंदी का प्राचीनतम ग्रंथ पृथ्वीराजरासो है। विद्वानों की राय है कि उन दिनों काव्यों में पछाहीं भाषा का प्रयोग किया जाता था। बात यह थी कि उन दिनों भारत में

राजपूत-नरेशों का ही प्राबल्य था। राजपूतों की बड़ी बड़ी राजधानियाँ, राज-पूताना, दिल्ली, मालवा आदि में थीं। उन्हीं राजाओं के आश्रय में रहकर कवियों ने काव्य-ग्रंथ लिखे। अतएव उनकी भाषा पछाहीं होनी ही चाहिये। फल यह हुआ कि यही भाषा काव्य की सामान्य भाषा हो गयी और समस्त भारत में उसका प्रचार हो गया। उसमें केवल बोल-चाल के ही शब्द न थे। उसमें कृत्रिम प्राकृतिक भाषा के कितने ही पुराने शब्द प्रयुक्त होते थे। हमीरदेव के समय तक इसी प्राकृत-मिश्रित भाषा का प्रचार बना रहा। चंद के बाद हिंदी में प्राकृत भाषा के शब्द निकलने लगे और उनके स्थान में संस्कृतशब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा, तो भी परम्परागत कितने ही प्राकृत शब्द प्रयुक्त होते रहे। इसी समय मुसलमानों का आगमन हुआ। दिल्ली राजधानी हुई। आजकल जो खड़ी बोली के नाम से प्रसिद्ध है वह मेरठ और उसके आसपास के प्रदेश में बोली जाती है। मुसलमानों ने उसी को ग्रहण कर लिया और अरबी तथा फारसी भाषाओं के प्रभाव से उस भाषा ने एक नवीन रूप धारण कर लिया। उसी का नाम उर्दू है। मुसलमानों के राजनैतिक प्रभुत्व के कारण वह देश-व्यापक भाषा हो गई। उर्दू हिंदी का ही एक रूप है, पर उसके मूल में इस्लाम-धर्म और सभ्यता के संस्कार विद्यमान हैं। खुसरो ने जो कविताएँ लिखीं उनमें हिंदी-साहित्य की परम्परागत काव्य भाषा का प्रभाव स्पष्ट है। व्रजभूमि के कवियों ने व्रजभाषा का महत्व बढ़ाया। कुछ अपनी स्वाभाविक मधुरता के कारण और कुछ वैष्णवधर्म के प्रभाव के कारण व्रजभाषा हिंदी में काव्य की सामान्य भाषा हो गयी। कबीर की रचनाओं में व्रजभाषा और खड़ी बोली का मेल है। जायसी और तुलसीदास जी ने अवधी में ही काव्य लिखे हैं। अवधी की वृद्धि का मुख्य

कारण है रामचरितमानस। रामचरितमानस की विशेष प्रचार-वृद्धि होने के कारण उसकी भाषा का प्रभाव हिंदी-काव्य की सामान्य भाषा पर इतना अधिक पड़ा कि परवर्ती साहित्य की भाषा में लोग मनमाने शब्दों का व्यवहार करने लगे। तो भी कुछ कवि ऐसे हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं में विशुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग किया है। आधुनिक साहित्य में गद्य का प्रचार होने पर व्रजभाषा का प्रभाव घटने लगा। अब खड़ी बोली ही हिंदी-काव्य की सामान्य भाषा हो रही है। काव्य-भाषा के इस विकास में भी हम आर्य जाति का विकास देख पाते हैं।

रमेश ने कहा—सच तो यह है कि भाषा और साहित्य का पारस्परिक विच्छेद नहीं हो सकता। वाणी और अर्थ सदैव संयुक्त ही रहेंगे। भाषा हमारे पूर्वजों की वैसे ही पूर्वार्जित संपत्ति है जैसी उनकी जातीय भावना। भाषा के द्वारा हम अपने पूर्वजों के संचित ज्ञान और आदर्श का उपार्जन कर सकते हैं। अतएव हमें इस सम्पत्ति की रक्षा सदैव यत्नपूर्वक करनी चाहिये।

महेश ने कहा—परंतु यह सम्पत्ति ऐसी नहीं है कि हम इसे कोष में बंद कर सुरक्षित कर सकें। यदि हम अपनी भाषा की वृद्धि नहीं कर सकते तो उसकी रक्षा करना भी हमारे लिये असंभव है। संसार परिवर्तनशील है, क्योंकि वह उन्नतिशील है। स्थिरता जड़त्व का सूचक है। जो जड़ नहीं, वे जंगम हैं। उनकी गति अवरुद्ध नहीं होती। मनुष्य के साथ भाषा की उत्पत्ति हुई है और उसी के साथ उसका विकास हुआ है। क्या आप भाषा की गति अवरुद्ध कर मनुष्य की चिरंतन आत्माभिव्यक्ति की चेष्टा को बंद कर देना चाहते हैं? भाषा में परिवर्तन अवश्यंभावी है, क्योंकि उसका संबंध

जीवित मनुष्य-समाज से है। सभी देशों और सभी काल में भाषा में परिवर्तन होते ही आये हैं। यह परिवर्तन किसं की इच्छा पर निर्भर नहीं है। सच तो यह है कि भाषा प विद्वानों का एकाधिपत्य होने से उसका एक साहित्यिक रू हो जाता है। ऐसी साहित्यिक भाषाएँ सर्वसाधारण से सम्पव न रखने के कारण मृत हो जाती हैं।

रमेश ने कहा—भाषा की यथार्थ उन्नति का सबसे बड़ अवरोधक है उसकी पराधीनता। हिंदी अभी तक पराधीनत के पाश से मुक्त नहीं हुई। जैसे देश की समृद्धि के लि स्वराज्य की आवश्यकता है वैसे ही साहित्य की उन्नति लिये भाषा का भी स्वराज्य आवश्यक है। जब कोई जाा किसी देश को अपने दासत्व-बंधन में कर लेती है तब वह उ देश की भाषा का स्वराज्य भी छीन लेती है। तब विजेता क ही भाषा विजित देश की प्रधान भाषा हो जाती है। इसक परिणाम यह होता है कि पराधीन जाति की भाषा पर अ विदेशी जातियों की भाषा का प्रभुत्व बढ़ने से उसका विशेषत नहीं रहता। पारसी, अरबी अथवा अंग्रेजी हमारे देश क भाषाएँ नहीं हैं। आजकल शिक्षित युवक परस्पर बात-ची करते समय हिंदी भाषा में जितने अंग्रेजी शब्दों का प्रयो करते हैं वे सब क्या हिंदी भाषा को विकास के पथ पर जावेंगे? यही बात फ़ारसी और अरबी शब्दों के संबंध भी कही जा सकती है। मुसलमानों के शासन-काल में शिक्षि जन अपनी भाषा में अरबी और फारसी शब्दों का प्रयो उतनी ही बहुलता से करने लगे जितनी बहुलता से आजक कालेज के छात्र और अंग्रेजी के विद्वान् भारतवासी अंग्रेज शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा में करते हैं। यह उन्नति व चिन्ह नहीं है। यह पराधीनता का सूचक है। यदि हमार

भाषा विदेशी भावों को ग्रहणकर उन्हें अपना लेने की शक्ति रखती है तो वह जीवित भी रह सकती है, अन्यथा उसका रूप नष्ट हो जाता है।

मैंने कहा—आपका कहना यथार्थ है। भाषा राष्ट्रीयता का चिन्ह है। हिंदी-भाषा में हिंदू-जाति की राष्ट्रीयता को स्थिर रखकर हमें उसके विशेषत्व को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहिये। हमें उसे इस योग्य अवश्य बना देना चाहिये कि युग की समस्त भावनायें उसमें व्यक्त हो सकें। परंतु इसके लिये हमें उसे विकृत नहीं बना डालना चाहिये। उर्दू पहले कोई स्वतंत्र भाषा अवश्य नहीं थी। परंतु मुसलमानों ने उसे अरब और फारस की पोशाक पहना कर उसको एक स्वतंत्र ही भाषा बना डाली।

रमेश ने कहा—भाषा का यथार्थ स्वराज्य प्राप्त करने के लिये हमें सदैव चेष्टा करनी चाहिये। अन्य भाषाओं के पराधीनता-पाश से मुक्त होने के लिये प्रत्येक भाषा क्रमशः तीन अवस्थाओं का अतिक्रमण करती है। पहली अवस्था में उसे किसी मृत भाषा का प्रभाव दूर करना पड़ता है। दूसरी अवस्था में उसको विदेशी भाषाओं के संसर्गज दोषों को निर्मूल करना पड़ता है। तीसरी अवस्था में वह अपनी ही कृत्रिमता को दूर कर स्वाभाविक रूप ग्रहण करती है। यह बात सभी देशों में देखी जाती है। योरप में एक हजार वर्ष तक लैटिन भाषा ही साहित्य की भाषा थी। विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषय लैटिन भाषा में ही लिखे जाते थे। लैटिन भाषा में धार्मिक विषय भी लिखे जाते थे। लैटिन भाषा का प्राधान्य आधुनिक युग के आरंभ तक था। बेकन, स्पाइनोजा, न्यूटन आदि विद्वानों तक ने लैटिन भाषा में रचनायें की हैं। आधुनिक युग के विख्यात

दार्शनिक वर्गसन ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ—काल और इच्छा शक्ति—को लैटिन भाषा में ही लिखा है। यही हाल भारतवर्ष का भी हुआ। संस्कृत भाषा बौद्ध युग के आरंभ काल में ही साहित्य की भाषा थी। ईसा के कोई ६०० वर्ष पहले से ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक विद्वानों ने उसी में श्रेष्ठ ग्रंथों की रचना की है। हिंदी में पहले केवल धार्मिक कवितायें ही लिखी गईं। मृत भाषा का प्राधान्य घट जाने पर भी कारण वश किसी किसी को विदेशी भाषा का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ता है।

मुसलमानों के शासन काल में फ़ारसी का प्रभुत्व हिंदी को स्वीकार करना पड़ा। अब अंग्रेज़ी का प्रभुत्व होने पर अंग्रेज़ी भाषा ने ही शिक्षित समाज पर अपना आधिपत्य दृढ़ कर लिया है। अंग्रेज़ी भाषा के माया-जाल को तोड़ कर बंगाल के शिक्षित समाज ने अपने प्रांत में एक नवीन साहित्य की सृष्टि की है। उसकी उत्तरोत्तर उन्नति भी हो रही है। परंतु हिंदी में साहित्य का निर्माण अभी तक अर्ध-शिक्षित लोगों के ही हाथों से हो रहा है। इसीसे उसमें मौलिकता, नवीनता तथा शक्ति का अभाव है। इसीसे हिंदी भाषा में भिन्न भिन्न भावों को सरलता पूर्वक व्यक्त करने की शक्ति नहीं आई है। उसमें कृत्रिमता भी बढ़ रही है।

मैंने कहा—भाषा का संबंध मनुष्य के अंतर्जगत से है। वह उसकी अंतर्भावनाओं का वाह्य रूप है। ज्यों ज्यों उसकी भावनाओं में परिवर्तन होगा त्यों त्यों भाषा का स्वरूप भी परिवर्तित होगा। देश, काल, विदेशी जातियों का सम्मिश्रण, ये सब भाषा के परिवर्तन में सहायक हैं। परंतु भाषा पर सबसे अधिक स्थायी प्रभाव धर्म का पड़ता है। पृथ्वी पर जब जब किसी नवीन धर्म का प्रचार हुआ है तब तब उस धर्म के साथ किसी भाषा-विशेष की उन्नति हुई है। बौद्ध-धर्म के साथ पाली क

प्रचार हुआ। जैन-धर्म के साथ अर्ध-मागधी की वृद्धि हुई। हिंदू-धर्म से संस्कृत का दृढ़ संबंध है। मध्य-युग में पोप के अभ्युदय से रोम धर्म का भी केन्द्र स्थान हो गया। उसी के साथ लैटिन भाषा भी देव-भाषा हो गई। रोम के धर्म-राज्य के साथ साथ लैटिन भाषा का भी प्रभुत्व बढ़ा। हिंदी पर संस्कृत भाषा का जो आधिपत्य है उसका कारण हिंदू-धर्म है। ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध जो आंदोलन हुआ उसने हिंदी भाषा को अवश्य स्वतंत्रता दे दी, परंतु हिंदी भाषा पर संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रभाव अक्षय है।

रमेश ने कहा—मैं भी यही बात मानता हूँ। भाषा में परि-वर्तन अवश्य होते रहते हैं, परंतु सिर्फ परिवर्तनशीलता ही प्रकृति का नियम नहीं है। गति के साथ स्थिति भी प्रकृति का नियम है। जो नष्ट हो गया उसका पुनरुद्भव होना संभव नहीं और जो स्थिर हो गया उसका लोप भी नहीं होने का। भाषा में जो स्थिरता आती है उसका कारण मनुष्य का धार्मिक संस्कार है। धर्म भाषा पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। हिंदी भाषा में उन सभी भावनाओं का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है, जो वैदिक युग, बौद्ध युग या पौराणिक युग में काम कर रही थीं। वैदिक युग की भाषा थी छांदस भाषा। उसका उद्देश्य था ऋषियों के हृदयोत्थित भावों को प्रकृति की अलक्षित शक्तियों की ओर प्रेरित करना। वैदिक मंत्रों की भाषा शक्ति-संचारिणी है, क्योंकि वह मनुष्य के अंतर्हित भाव को जाग्रत करने के लिये विकसित हुई थी, उसमें प्राण का आवेग विद्यमान है। सभ्यता के युग में मनुष्य अपने कितने ही भावों को छिपाने की चेष्टा करता है। कृत्रिम आचार-व्यवहार की जटिलता के कारण वह अपनी भाषा में शब्दों का जाल रचता है, पर वैदिक युग ज्ञान का उषःकाल था।

तव वाणी अंतःकरण की देवी थी। इसी से उसमें संज्ञाओं का रूप-वैचित्र्य है, क्रियाओं का नहीं। क्रियाओं पर संज्ञा-शब्दों का विशेष प्रभाव भी नहीं पड़ता। स्त्री और पुरुष में अधिकार-भेद होने के कारण हिंदी में क्रियाओं में भी लिंग-भेद हो गया। वैदिक भाषा का लक्ष्य था शक्ति की प्राप्ति। अनेकत्व में एकत्व स्थापित करने की ओर ऋषियों ने सदैव चेष्टा की। संज्ञा के साथ क्रियाओं के संबंध वतलाने वाले शब्द अव्यय है। उन पर किसी का प्रभाव नहीं पड़ता। वे पुरुष और प्रकृति के नित्य संबंध के सूचक हैं। वैदिक भाषा में कोमलता नहीं, गंभीरता है। उसमें रस नहीं, शक्ति है। सरसता के लिये हमें बौद्ध युग की ओर दृष्टि डालनी पड़ेगी। प्राकृत भाषाओं में माधुर्य अधिक है। इन दोनों का सम्मिलन पौराणिक युग में हुआ। अनार्य जातियों के समावेश से भारतीय राष्ट्र अधिक व्यापक हो गया। अतएव उसकी भाषा में व्यापकता आई। फल यह हुआ कि अनेक भाषाओं की सृष्टि हुई, यद्यपि उनका आदर्श प्राचीन ही वना रहा। अभी तक भाषा का स्वतंत्र विकास होता रहा, परंतु जव मुसलमानों का आधिपत्य भारत पर हुआ तव उनकी भाषा का भी प्रभुत्व भारतीय भाषा पर हो गया। ग्रामीणों ने तो अपनी भाषा के स्वरूप की रक्षा की, पर नगरों में भाषा का नवीन रूप हो गया।

पाश्चात्य भाषाओं का भी प्रभाव हिंदी पर पड़ा। पर यहाँ भी वही वात हुई। अशिक्षितजनों ने अपनी भाषा में विदेशी शब्दों को ऐसे अच्छे ढंग से अपना लिया कि वे उनकी भाषा के ही शब्द वन गये, किंतु शिक्षित जनों ने अपना पांडित्य-प्रदर्शन करने के लिये विदेशी शब्दों से अपनी भाषा को भाराक्रांत कर दिया। अव भी वही चेष्टा की जा रही है। भारत-वर्ष में जितनी भाषायें प्रचलित हैं उन सवका आदर्श संस्कृत

भाषा ही है, क्योंकि भारतीय सभ्यता और राष्ट्रीयता के मूल भाव संस्कृत में हैं। अतएव हमारा यह कर्तव्य है कि हिंदी के यथार्थ स्वरूप की रक्षा के लिये हमें उसे विदेशी भाषाओं की पराधीनता से मुक्त करनी होगी।

महेश ने कहा—अस्तु। अब इस विवाद का यहीं अंत कीजिये।

---

# ३—साहित्य-विचार

संध्या हो गई थी। आकाश मेघाच्छन्न था। मेघों की श्याम घटा देखने से यही जान पड़ता था कि अब वर्षा होने ही पर है। रमेश बाबू खिड़की के पास खड़े होकर अन्यमनस्क भाव से आकाश की ओर ताक रहे थे। महेश बाबू मुँह में चुरुट दबाये 'टाइम्स आफ इण्डिया' के पन्ने उलट रहे थे और मैं एक हिंदी मासिक-पत्र में किसी नवीन लेखक की एक प्रेम-कथा पढ़ रहा था। इतने में रमेश बाबू धीरे धीरे गुनगुनाने लगे—

'जब सुहावनी घटा देख कर सुखी अनमने हो जाते।'

रमेश बाबू के मुँह का गुनगुनाना सुनते ही मैंने कहा—रमेश बाबू, जान पड़ता है कि मेघालोक से आपकी भी चित्तवृत्ति अन्यथा हो गई।

रमेश बाबू ने कहा—बिलकुल सच। इस परिवर्तनशील संसार में यही तो एक ऐसा दृश्य है जो हम लोगों को एक कल्पित यक्ष-लोक में खींच ले जाता है, जहाँ जन्म-मृत्यु का चक्र नहीं, जहाँ अवस्थाओं का उत्थान पतन नहीं, जहाँ चिर-वैभव, चिर-यौवन और चिर-नवीनता है। कालिदास ने न जाने कब 'मेघदूत' लिखा, पर मेघ प्रतिवर्ष हम लोगों के लिये वही संदेह लाता है, हम लोगों के हृदय में वही अतृप्ति, वही आकांक्षा, वही उद्दाम वासना जागृत करता है। कवि किसी भी युग और किसी भी देश का क्यों न हो, पर उसके भाव तो सभी देशों और सभी युगों को आक्रांत कर देते हैं।

महेश बाबू ने कहा—जो सत्य है वह तो स्वयं देश और काल से बद्ध नहीं है, पर वह देश और काल के भीतर ही प्रकट होता है। कवि भी देश और काल की सीमा में बद्ध है। 'मेघदूत' का रसास्वादन करने के लिये हमें कालिदास के युग की भी कल्पना करनी पड़ती है। हमें उसी युग में जाकर रहना पड़ता है। वैभव और विलास के कल्पित लोक में जाकर हमें क्षण-भर के लिये अपनी वर्तमान दीन-हीन स्थिति भूल जानी पड़ती है। नहीं तो दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों का आर्तनाद सुनकर हमें मेघदूत के विलास-वर्णन से अरुचि हो जायगी।

रमेश बाबू ने कहा—महेश बाबू, आप मनुष्य को केवल शरीर ही समझते हैं। आप यह नहीं ख़याल करते कि उसके पास मन नाम की एक वस्तु है जो शरीर से बहुत ऊँची है। शरीर के लिए जैसे कुछ आवश्यक वस्तुएँ हैं वैसे ही मन के लिए भी कुछ वस्तुओं की आवश्यकता होती है। मन का एक दूसरा ही जगत है। कवि उसी मानसिक जगत में विचरण करता है।

महेश बाबू बोले—अर्थात् कल्पना द्वारा यथार्थ स्थिति को भूलकर, यथार्थ सत्य पर दृष्टिपात न कर, एक अलौकिक जगत ं चला जाता है। यही तो मैं भी कहता हूँ, रमेश बाबू, पर त्य की परीक्षा के लिए हमें उसी कल्पित लोक को विच्छिन्न कर देखना पड़ेगा। तभी हम समाज की यथार्थ अवस्था जान सकेंगे। वर्षा का उल्लास देखने के बाद हमें कीचड़ से भरे हुए रास्तों में भी चलना पड़ता है।

रमेश ने कुछ चिढ़ कर कहा—आप तो दूसरी ही बात पर विवाद करने लगे। हम लोगों में केवल क्षुधा नहीं, सौंदर्य-भाव भी तो है। कवि उसी सौंदर्य का उपासक होता है और वह सौंदर्य चिर-नवीन और चिरंतन होता है।

महेश बाबू ने कहा—जो सत्य है वही सुंदर है। जो कवि है, जो द्रष्टा है, वह सत्य का ही उपासक है। साहित्य में कभी जो एक आदर्श निश्चित हो जाता है, सौंदर्य की जो एक निर्दिष्ट सीमा बन जाती है, जिसके साथ हमारी भावना संकुचित हो जाती है, वह साहित्य के पतन-काल का सूचक है। यही कारण है कि साहित्य में सदैव आदर्श परिवर्तित होते रहते हैं।

रमेश बाबू ने कहा—जो कवि है वह अपने लिये स्वयं एक पथ निश्चित करता है, वह अपने लिए स्वयं एक आदर्श निर्मित करता है। कवि का वह आदर्श उसके व्यक्तित्व का सूचक है। मानव-समाज उसे ग्रहण करे या न करे, इससे उसको कुछ प्रयोजन नहीं।

मैंने कहा—पर साहित्य का स्वरूप तो सदा परिवर्तित होता रहता है। भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मनुष्य जीवन में हम जो वैचित्र्य और जटिलता देखते हैं, वही हम साहित्य में भी पाते हैं। मानव-समाज के साथ साथ उसका भी उत्थान-पतन होता रहता है। साहित्य मानव-जीवन से सम्बद्ध है।

रमेश ने कहा—इसका तो यह मतलब है कि जब कोई जाति अवनत दशा में है, तब उसका साहित्य भी अवनत हो। किन्तु, प्रायः देखा जाता है कि जाति के अधः पतित होने पर उसमें श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है, और जब जाति गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाती है, तब उसका साहित्य श्री-हत हो जाता है। किसो किसी का शायद यह ख़याल है कि जब देश में शांति विराजती है, तभी सत्साहित्य का निर्माण होता है। पर साहित्य के इतिहास में हम देखते हैं कि युद्ध-काल में भी जब एक जाति वैभव की आकांक्षा से

उद्दीप्त होकर नर-शोणित के लिये लोलुप हो जाती है, तव उसमें दैवी-शक्ति-संपन्न कवि जन्म-ग्रहण करते हैं।

मैंने पूछा—तव आपकी राय में साहित्य के उद्भव का कारण क्या है? क्या कवि की उत्पत्ति आकाश में विद्युत् की भाँति एक आकस्मिक घटना है? क्या देश और समाज के प्रतिकूल साहित्य की सृष्टि होती है? क्या कवि देश और काल की अपेक्षा नहीं करता? अथवा, क्या देश और काल के अनुसार ही साहित्य की रचना होती है?

महेश ने कहा—साहित्य में वैचित्र्य है। परंतु उस वैचित्र्य में भी साम्य है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर वहे, चाहे समतल भूमि पर, उसकी धारा विच्छिन्न नहीं होती। साहित्य का स्रोत भी भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न स्वरूप धारण करके अविच्छिन्न ही वना रहता है। उदाहरण के लिये हम हिंदी-साहित्य की ही विचार-धारा पर ध्यान देते हैं। महाकवि चंद से लेकर आज तक जितने कवि हुए हैं, सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया। विचार-वैचित्र्य के अनुसार हिंदी-काव्यों के चार स्थूल विभाग किये जा सकते हैं। हिंदी साहित्य के आदि-काल में वीर पूजा का भाव प्रधान था, उसके वाद अध्यात्मवाद की प्रधानता हुई, फिर भक्त कवि उत्पन्न हुए, तदनन्तर शृंगार रस की उत्कृष्ट कविताएँ निर्मित हुईं। यह सव होने पर भी हिंदी साहित्य में हम एक विचार-धारा देख सकते हैं। जिस भावना के उद्रेक से चंद कवि ने अपने महाकाव्य की रचना की, वह सूर और विहारी की रचनाओं में भी विद्यमान है। वह है हिंदू जाति का अधःपतन। महाकवि चंद ने अपनी आँखों से हिंदू-साम्राज्य का विनाश देखा। उन्होंने उसकी गौरव-रक्षा के लिए अपने काव्य का विशाल मंदिर खड़ा कर दिया। कवीर ने अपनी वचनावली में भारत की

सामाजिक दशा का ही चित्र अंकित किया है। सूरदास के पदों में भी वही हाहाकार है। विहारी के विलास-वर्णन में भी विषाद है। बसंत ऋतु के अतीत गौरव का स्मरण कर उसी के पुनरुद्भव की आशा में उनका मन अटका रहा। भूषण के वीर-रसात्मक काव्यों में भी हम शौर्य के स्थान में शस्त्रों की व्यर्थ झनकार ही सुनते हैं। पद्माकर ने निर्वाणोन्मुख दीप-शिखा की भाँति 'हिम्मत बहादुर' की गुणावली का गान किया है। कहाँ तक कहें, हिंदी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में भी हम दुर्भिक्षपीड़ित भारत का चीत्कार ही सुनते हैं। दासत्व-बंधन में जकड़े और विजेताओं द्वारा पद-दलित हिन्दू-साहित्य में अन्य किसी भाव की प्रधानता हो भी कैसे सकती है?

मैंने कहा—यदि आपकी विवेचना ठीक है, तो हम कह सकते हैं कि साहित्य का मुख्य विचार-स्रोत समाज का अनुगमन कर सकता है।

रमेश ने कहा—परंतु समाज की हीनता पर साहित्य की हीनता अवलंबित नहीं है। अपनी हीनावस्था में भी हिंदू-जाति ने ऐसे कवि उत्पन्न किये हैं, जो किसी भी समृद्धिशाली जाति का गौरव बढ़ा सकते हैं। सूर, तुलसी और विहारी ने शक्ति-हीन हिंदू-जाति में ही जन्म ग्रहण किया था, परंतु उनकी रचनाएँ सदैव आदरणीय रहेंगी। सच तो यह है कि जब कोई जाति वैभव-संपन्न हो जाती है, तब उसके साहित्य का ह्रास होने लगता है। पार्थिव वैभव से कविता-कला का कम संबंध है। वैभव की उन्नति से जब किसी जाति में स्थिरता आ जाती है, तब साहित्य की अवनति होती है। यह नियम पृथ्वी की सभी जातियों के संबंध में, सभी कालों में, सत्य है।

महेश ने कहा—कितने ही विद्वानों का विश्वास है कि

जब मनुष्य प्रकृति के सौन्दर्य-विकास से मुग्ध हो जाता है तब वह अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इसी सौन्दर्य-लिप्सा से साहित्य की सृष्टि होती है, और कला का विकास। परंतु इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब तो उसकी सौंदर्यानुभूति और सौंदर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता, उलटे उसकी वृद्धि ही होती है। तब ऐसी अवस्था में, साहित्य और कला की खूब उन्नति होनी चाहिए। परंतु, फल विपरीत होता है। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलिन हो जाता है और कला श्री-हत। जर्मनी के नृ-तत्व-विशारदों का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है, वह प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतङ्क का भाव उत्पन्न होता है और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। नवीनता की अनुभूति से विस्मय प्रकट होता है।

रमेश ने कहा—जीवतत्व विशारद विरचाउ ने मनुष्य के विस्मयोद्रेक का यही कारण बतलाया है। परंतु उन्होंने कहा है कि उसी विस्मय से भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है और यही भाव साहित्य का मूल है। यह भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, अथवा यह कहना चाहिये कि इस भाव से दो भावनाएँ उत्पन्न होती है। पहली भावना है जिगीषा, अर्थात् यह सोचना कि हम प्राकृतिक शक्तियों को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त कर लेंगे और तब इस विस्मयागार पर हमारा अधिकार हो जायगा। दूसरी भावना है तन्मयता, अर्थात् यह सोचना कि हम इस रूप-सागर में निमग्न होकर नित्य-नवीनता को प्राप्त कर लेंगे। पहली भावना से विज्ञान

की उत्पत्ति होती है। दूसरी भावना से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं, जो काव्य और साहित्य के मूल हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार और भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से वे भावनाएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हैं। उन्हीं से साहित्य का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है।

मैंने कहा—आपके कथन से यह मालूम होता है कि साहित्य के दो प्रधान भेद हैं—एक विज्ञान, दूसरा कला। इनके मूल-गत भाव भिन्न-भिन्न है। इनका विकास भी एक ही रीति से नहीं होता। विज्ञान पर बाह्य जगत् का प्रभाव खूब पड़ता है और कला पर अन्तर्जगत् का। धार्मिक आंदोलन से कला का स्वरूप अवश्य परिवर्तित होता है। उसी प्रकार बाह्य समृद्धि की आकांक्षा से विज्ञान की गति तीव्रतर होती है। बौद्ध युग में जब कवित्व कला का अभाव हुआ, तब विज्ञान की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। आधुनिक युग में भी विज्ञान की उन्नति से कविता का ह्रास हुआ है।

रमेश ने कहा—साहित्य के विकास में हमें एक दूसरी बात पर ध्यान देना चाहिए। वह यह है कि कला में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, और विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता नहीं लक्षित होती। शेक्सपीयर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की है। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धांत निर्मित किया है। न्यूटन के आविष्कार से विज्ञान को बड़ा लाभ पहुँचा है। संसार न्यूटन का सदा कृतज्ञ रहेगा। परंतु, यह सभी स्वीकार करेंगे कि अब ज्ञान की उन्नति में वह स्वयं उतना महत्व नहीं रखता। पर शेक्सपीयर की रचना के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। अपनी प्रतिभा के बल से उसने जो साहित्य तैयार किया, उसका महत्व कभी घटने का नहीं।

महेश ने कहा—विज्ञान की उन्नति से साधारण नियमों की वृद्धि होती है। प्रकृति की रहस्यमयी मूर्ति वैसे ही नियमों से स्पष्ट होती है। सच पूछो तो विज्ञान साधारण नियमों का समूह-मात्र है। परंतु कला कोई नियम नहीं ढूँढ़ निकालती। कला जीवन की प्रकाशिका कही गई है। अतएव, जीवन-वैचित्र्य के कारण कला में वैचित्र्य सदैव रहेगा। वैचित्र्य के अभाव से कला का ह्रास होता है। मनुष्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी, और जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा, तब कला में भी सरलता आने लगेगी। सभ्यता के आदि काल में मानव-जीवन बहुत सरल होता है। अतएव तत्कालीन साहित्य और कला में सरलता रहती है। तब न तो शब्दों का आडंबर रहता है और न अलंकारों का चमत्कार। उस समय कला का क्षेत्र भी परिमित रहता है। उसमें रूप रहेगा, परंतु रूप-वैचित्र्य नहीं। ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों मनुष्य-जीवन जटिल होता जाता है, साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। इस तरह जिस जाति का जीवन जितना ही विशाल होगा, उसकी कला भी उतनी ही अधिक उन्नत होगी, और उसका आदर्श भी उतना ही विशाल होगा।

रमेश ने कहा—साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एक मात्र कारण यही है कि मनुष्य अपने जीवन में सम्पूर्णता को उपलब्ध करना चाहता है—वह उसी में तन्मय होना चाहता है। परंतु, संपूर्णता है कहाँ? बाह्य प्रकृति में तो है नहीं। यदि बाह्य जगत् में ही मनुष्य संपूर्णता को पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती। वह संपूर्णता कवि के कल्पना-लोक में, शिल्पी के मनोराज्य में है। वहीं जीवन का पूर्णरूप प्रकाशित होता है। वहीं यथार्थ में हम सौंदर्य देखते

हैं। उसी के प्रकाश में जब हम संसार को देखते हैं, तब मुग्ध हो जाते हैं। एक कवि ने कहा है कि जो प्रकाश जल या स्थल में कहीं भी नहीं है, वह पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में रहता है।

महेश ने कहा—कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ठ संबंध है। मानव-जीवन से पृथक् कर देने पर कला का महत्व नहीं रहता। पर्सी ब्राउन नाम के एक विद्वान का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-सृष्टि की चेष्टा मानव-जाति की उत्पत्ति के साथ ही हैं। शिक्षा और सभ्यता के साथ सौन्दर्यानुभूति का उन्मेष और विकास होता है। कविता, संगीत और चित्रकला के नमूने कंदरा में रहने वाली जातियों में भी पाये जाते हैं। अपनी सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला का मूल है।

मैंने कहा—कला की उन्नति तभी होती है, जब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य रहता है। जब मनुष्य को यथेष्ट सुखोपभोग की स्वतंत्रता रहती है, जब उसे अपने हृद्गत भावों के दबाने की जरूरत नहीं रहती, तभी वह इस सौंदर्य-सृष्टि के लिए चेष्टा करता है।

महेश ने कहा—आपका ख़याल है कि जब देश में सर्वत्र शान्ति रहती है तभी कला की उन्नति होती है। मैं समझता हूँ जब तक समाज में शांति रहती है तब तक कला की उन्नति होती ही नहीं। इसके विपरीत जब समाज क्षुब्ध होता है, जब मनुष्य अपने हृदय में अशान्ति का अनुभव करने लगते हैं, जब देश में युद्ध होने लगता है, तब कला उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। जिगीषा का भाव मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करता है। शान्ति के समय वह अपने ज्ञान का विस्तार कर सकता है परन्तु नवीन सृष्टि नहीं कर सकता।

नव युग विजय की इच्छा उसको नवीन रचना करने के लिए उत्साहित
ल ग करती है। यही कारण है कि ग्रीस में युद्ध और अन्तर्विप्लव के
वि काल में ही कला की उन्नति हुई। योरप में गॉथिक कला का
विकास भी इसी तरह हुआ। यदि युद्धकाल उपस्थित न होता,
तो कदाचित् योरप में पुनरुत्थान-काल (रेनेंसाँस पीरियड)
भी न आता। युद्ध की इच्छा से चित्त-वृत्ति में स्वतंत्रता आ
जाती है; और कला की उन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक
है। जो जाति दासत्व की शृंखला से बँधी होती है, उसकी
चित्तवृत्ति का स्वातंत्र्य नष्ट हो जाता है, उसकी मानसिक
शक्ति कुण्ठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर
मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह
प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है।
तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव को
प्रतिष्ठित कर वह उसे किस प्रकार अधिक सुन्दर करे। यही
नहीं, वह सौंदर्य-विकास के साथ अनंत और अजेय को भी
अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

प्रकृति के सौंदर्य के भीतर जो अनन्त रूप विद्यमान है उसे
धर्म ही, विश्वास के द्वारा, मनुष्य के लिये अनुभवगम्य कर
देता है। प्रातःकाल सूर्योदय की शोभा देखकर मनुष्य मुग्ध हो
सकता है, परंतु उसका वह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की
लालिमा है, तभी तक वह मोह है। परंतु, धर्म ने उसको बतलाया
है कि इस प्रातःकालीन लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान
है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"। तब वह सौन्दर्य-भावना स्थायी हो
जाती है। यदि समाज में धर्म का और धर्म में सौंदर्य का भाव
है, तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

मैंने कहा—भारतवर्ष में जब तक व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य था,
धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई।

हैं। उसी के प्रकाश में जब हम संसार को देखते हैं, तब मुग्ध हो जाते हैं। एक कवि ने कहा है कि जो प्रकाश जल या स्थल में कहीं भी नहीं है, वह पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में रहता है।

महेश ने कहा—कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ठ संबंध है। मानव-जीवन से पृथक् कर देने पर कला का महत्व नहीं रहता। पर्सी ब्राउन नाम के एक विद्वान का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-सृष्टि की चेष्टा मानव-जाति की उत्पत्ति के साथ ही हैं। शिक्षा और सभ्यता के साथ सौन्दर्यानुभूति का उन्मेष और विकास होता है। कविता, संगीत और चित्रकला के नमूने कंदरा में रहने वाली जातियों में भी पाये जाते हैं। अपनी सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला का मूल है।

मैंने कहा—कला की उन्नति तभी होती है, जब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य रहता है। जब मनुष्य को यथेष्ट सुखोपभोग की स्वतंत्रता रहती है, जब उसे अपने हृद्गत भावों के दबाने की जरूरत नहीं रहती, तभी वह इस सौंदर्य-सृष्टि के लिए चेष्टा करता है।

महेश ने कहा—आपका ख़याल है कि जब देश में सर्वत्र शान्ति रहती है तभी कला की उन्नति होती है। मैं समझता हूँ जब तक समाज में शांति रहती है तब तक कला की उन्नति होती ही नहीं। इसके विपरीत जब समाज क्षुब्ध होता है, जब मनुष्य अपने हृदय में अशान्ति का अनुभव करने लगते हैं, जब देश में युद्ध होने लगता है, तब कला उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। जिगीषा का भाव मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करता है। शान्ति के समय वह अपने ज्ञान का विस्तार कर सकता है परन्तु नवीन सृष्टि नहीं कर सकता।

विजय की इच्छा उसको नवीन रचना करने के लिए उत्साहित करती है। यही कारण है कि ग्रीस में युद्ध और अन्तर्विप्लव के काल में ही कला की उन्नति हुई। योरप में गॉथिक कला का विकास भी इसी तरह हुआ। यदि युद्धकाल उपस्थित न होता, तो कदाचित् योरप में पुनरुत्थान-काल ( रेनैसाँस पीरियड ) भी न आता। युद्ध की इच्छा से चित्त-वृत्ति में स्वतंत्रता आ जाती है; और कला की उन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृंखला से बँधी होती है, उसकी चित्तवृत्ति का स्वातंत्र्य नष्ट हो जाता है, उसकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव को प्रतिष्ठित कर वह उसे किस प्रकार अधिक सुन्दर करे। यही नहीं, वह सौंदर्य-विकास के साथ अनंत और अजेय को भी अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

प्रकृति के सौंदर्य के भीतर जो अनन्त रूप विद्यमान है उसे धर्म ही, विश्वास के द्वारा, मनुष्य के लिये अनुभवगम्य कर देता है। प्रातःकाल सूर्योदय की शोभा देखकर मनुष्य मुग्ध हो सकता है, परंतु उसका वह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की लालिमा है, तभी तक वह मोह है। परंतु, धर्म ने उसको बतलाया है कि इस प्रातःकालीन लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"। तब वह सौन्दर्य-भावना स्थायी हो जाती है। यदि समाज में धर्म का और धर्म में सौंदर्य का भाव है, तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

मैंने कहा—भारतवर्ष में जब तक व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य था, धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई।

स्वतंत्रता के लुप्त हो जाने पर भी भारतवासियों ने अपने ध
की भावना से कला की रक्षा की। परंतु अब स्वाधीनता श्र
धार्मिक भावना खोकर वे अपनी कला भी खो बैठे।

महेश ने कहा—मनुष्य ने संसार से जो अपना संबं
स्थापित किया है, वह उसके धार्मिक विश्वासों से प्रकट हो
है। ज्यों ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते
त्यों त्यों संसार से उसका संबंध भी बदलता जाता है। धार्मि
विश्वास में शिथिलता आने से उसका सांसारिक जीवन
शिथिल होता जाता है, और उसकी यह शिथिलता उस
सभी कृत्यों में दिखलाई देती है। साहित्य में मनुष्यों के धार्मि
परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उस
साहित्य का स्वरूप भी बदल जाता है। धर्म से साहित्य
अच्छेद्य सम्बन्ध है। डाक्टर वीवर नाम के एक विद्वान ने प
बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक धर्म हो
है। ईसाई-धर्मावलंबी योरप के सभी सभ्य देशों की भाषा
धर्म ईसाई-मत का ही अवलंबन करता है। वहाँ ईसाई धर्म
प्रत्येक देश और जाति की विशेषता को ग्रहण कर साहित्य
विद्यमान है। इस मत का समर्थन कितने ही विद्वानों ने कि
है। अब यह सर्वसम्मत सिद्धांत हो गया है कि जिस जा
का जो धर्म है, उस जाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उस
धर्म के अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषा के प्रत्येक शब्द
रचना-शैली, अलंकार के समावेश और रस के विकास में
उसी धर्म की ध्वनि श्रुतिगोचर होगी। साहित्य से धर्म पृथ
नहीं किया जा सकता। चाहे जिस काल का साहित्य हो
उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ही चित्र अंकित होगा।

मैंने कहा—हिंदू साहित्य में धर्म के तीन स्वरूप लक्षि
होते हैं—प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिन्दू-साहित्य

आदि काल में धर्म की प्राकृतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ, और जब भारतीय समाज में धार्मिक उत्क्रांति हुई, तब साहित्य में, नवोत्थान-काल उपस्थित होने पर, आध्यात्मिक भावों की प्रधानता हुई।

महेश ने कहा—धर्म की पहली अवस्था में प्रकृति की ही ओर हमारा लक्ष्य रहता है। तब हम बाह्य जगत में ही रहते हैं। उस समय हमारी साधना का केन्द्रस्थल प्रकृति में ही स्थापित होता है। इस अवस्था में भी तन्मयता की ओर भारतीय कवियों का लक्ष्य रहता है। सभी देशों के प्राचीन साहित्य में प्रकृति की उपासना विद्यमान् है। प्राचीन ग्रीक-साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को दिव्य स्वरूप देकर उनका यशोगान किया गया है। परंतु उसमें हिन्दू-जाति जैसी तन्मयता नहीं है।

हिन्दुओं के मतानुसार कला के तीन आदर्श हो सकते हैं। जिससे केवल प्राण-रक्षा हो, वह तामसिक है। जब कला अपने ऐश्वर्य और शक्ति के द्वारा समस्त समाज पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, और केवल सौंदर्य की सृष्टि की ओर उसका लक्ष्य रहता है, तब वह राजसिक होती है। सात्विक कला ः अनन्त के लिए सांत की व्याकुलता रहती है। तब मनुष्य प्रकृति को जड़ नहीं समझता। वह उसको अपने जीवन में ग्रहण करना चाहता है, उसको रस-रूप में परिणत करना चाहता है। प्रकृति के सात्विक उपासकों के लिए प्रकृति दयामयी और प्रेममयी रहती है। उससे मनुष्य का संबंध केवल ज्ञान के द्वारा स्थापित नहीं होता है। यथार्थ सम्बन्ध-सूत्र प्रेम होता है। ग्रीक साहित्य में जिन देवों की सृष्टि की गई है वे मानव जाति से सर्वथा पृथक् थे। परंतु हिंदू-देवता मानव-जाति से घनिष्ठ संबंध रखते थे। वैदिक ऋषियों ने विश्व के प्रति जैसी प्रीति प्रकट की है, उससे यही मालूम होता है कि स्वर्ग

की अपेक्षा पृथ्वी ही उनके लिए अधिक सत्य थी। एक स्थान पर पृथ्वी को संबोधन कर उन्होंने कहा है—"हे पृथ्वी, तेरे पहाड़ तेरे तुषारावृत पर्वत, तेरे अरण्य, हमारे लिए सुखकर हों।" दूसरे स्थान में उन्होंने कहा है,—"भूमि हमारी माता है, और हम पृथ्वी के पुत्र।" फिर लिखा है, "हे माता भूमि, तेरा ग्रीष्म, तेरी वर्षा, तेरा शरद, हेमन्त, शिशिर और वसंत, तेरा सुविन्यस्त ऋतु संवत्सर, तेरे दिन और रात्रि तेरे वक्षस्थल की दुग्धधारा के समान रक्षित हों।" इन उद्‌गारों से विश्व प्रकृति के साथ उनका साहचर्य प्रकट होता है।

रमेश ने कहा—सभ्यता के विकास से प्रकृति के साथ वह घनिष्ठता नहीं बनी रहती। मनुष्य जब क्रमशः इन्द्रियों से, मन से, कल्पना से और भक्ति से बाह्य प्रकृति का संसर्ग लाभ कर लेता है, तब वह उसके परिचय की अन्तिम अवधि तक पहुँच जाता है। तब एक-मात्र प्रकृति ही उसका आश्रय नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूप में वह सदैव अस्थिरता देखता है। प्रकृति के शक्ति-पुंज में भी वह सम्पूर्णता नहीं उपलब्ध कर सकता। इससे उसको संतोष नहीं होता। फिर वह देखता है कि जिस चैतन्य शक्ति का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह उसके अन्तर्जगत् में भी विद्यमान है। अतएव अब उसका लक्ष्य अंतर्जगत् हो जाता है। वह प्रकृति के स्थान में मनुष्य-समाज को ग्रहण करता है। यही धर्म की नैतिक अवस्था है। यह अवस्था उपस्थित होने पर कवियों ने मानव-जीवन में सौंदर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने राम अथवा कृष्ण, सीता अथवा सावित्री के चरित्र में एक विचित्र प्रकार के सौंदर्य का अनुभव किया। तब उन्होंने देखा कि बाह्य जगत् में सौंदर्य का पूर्ण विकास नहीं होता। जहाँ जीवन का प्रकाश पूर्ण-मात्रा में विद्यमान है,

वहीं यथार्थ सौंदर्य है। अतएव कला का लक्ष्य मुख्यतः जीवन ही है, और निर्मलता ही सौंदर्य है। पवित्र स्वभाव अधिक मनोमोहक है। रमणीमूर्ति में मातृ-मूर्ति अधिक चित्त को आकृष्ट करती है। पुरुषों में शौर्य, दया और दाक्षिण्य अधिक आदरणीय हैं। अतः मनुष्य के इन्हीं गुणों की पराकाष्ठा दिखलाने के लिए आदर्श-चरित्रों की सृष्टि होने लगी। प्रकृति को अन्त में गौण स्थान मिल गया है। यदि वह है, तो मनुष्य के लिए। कुछ ने तो उसे मायाविनी समझकर सर्वथा त्याज्य समझ लिया है।

महेश ने कहा—मानव-चरित्र के विश्लेषण में कवियों और साधकों ने ज्यों-ज्यों चरित्र-महत्ता देखी, त्यों त्यों उन्होंने अन्त-र्निहित शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि यदि इस शक्ति का पूर्ण विकास हो जाय तो मनुष्य देवोपम हो जाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्रों में उन्होंने एक ऐसी महत्ता देखी, जो संसार में अतुलनीय थी। व ये ही उनकी उपासना के केन्द्र हो गये। आज-कल हम लोगों लिये ये चरित्र अतीत काल के हो गये हैं। परंतु मध्ययुग के वि और कला-कोविद इनका प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। हमारे वियों और साधकों के विषय में जो दंत-कथाएँ प्रचलित हैं, नमें यही बात कही जाती है कि उन्होंने साक्षात् भगवान् को ाप्त किया। यह मिथ्या नहीं है। यदि तुलसीदास और रदास अपने अंतःकरण में राम और कृष्ण का दर्शन न करते, ो उनकी रचनाओं में वह शक्ति न रहती जो है। दांते ने तो वर्ग और नरक का ऐसा वर्णन किया है कि मानो उसने ाचमुच वहाँ की यात्रा की हो। उसके वर्णन में एक भी बात हीं छूटने पाई। प्रत्यक्ष दर्शन न सही, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभूतिका ो परिणाम यह अवश्य है। क्रमशः राम, कृष्ण, बुद्ध और

ईसा के चरित्र आध्यात्मिक जगत में लीन हो गये। संसार से पृथक् होकर उन्होंने भावजगत् में अक्षय स्थान प्राप्त किया है। सौंदर्य और प्रेम की जो धारा उनके चरित्रों से उद्गत हुई वह मानव-समाज में फैलकर विस्तृत हो गई। कबीर, चैतन्य, दादू, मीराबाई आदि संत कवियों ने अंतर्निहित सौंदर्य-राशि को प्रकट करने की चेष्टा की। उनकी आध्यात्मिक भावना का यह परिणाम हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्जगत् के रहस्योद्-घाटन करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

रमेश ने कहा—आस्कर वाइल्ड ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि बाह्य सौंदर्य उसको कितना ही मुग्ध क्यों न करे, वह सौंदर्य के पीछे एकात्मयता देखना चाहता है। संसार को जो सौंदर्य आप्लावित किये है वह किसी एक स्थान में ही आबद्ध नहीं रह सकता। नीच और उच्च का भेद उसके लिये नहीं है। इसलिये सभी स्थानों में उसकी खोज की जाती है। एक प्रसिद्ध विद्वान् का कथन है कि यदि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से हो सके, यदि हम स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग प्राप्त कर सकें, तो कला का रहस्य जान लें। तब हम अपनी आत्मा के गंभीर-तम स्थल में अपने अंतर्जगत् के संगीत सुन लें। यह संगीत कभी आनंदमय होता है और कभी विषादपूर्ण, परंतु वह सर्वदा नवीन ही बना रहता है। यह हमारे चारों ओर व्याप्त है, हमारे भीतर भी है। परंतु हम इसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। हमारे और विश्व के बीच, हमारे चैतन्य और जड़ के बीच, एक परदा पड़ा हुआ है। आध्यात्मिक कवि उस पर्दे के भीतर अंतर्गत रहस्य को देख सकते हैं। परंतु सर्वसाधारण के लिये यह परदा रुकावट है। आधुनिक साहित्य में जिस अध्यात्मवाद की धारा बह रही है उसकी गति इसी ओर है।

# ४–प्राचीन और नवीन

एक दिन मैंने रमेश से कहा—आज कल भारतीय जी में जिन नये आदर्शों की स्थापना हो रही है उनसे जान पड़ है कि प्राचीन आदर्शों का बिलकुल ही लोप हो जायगा।

रमेश ने कहा—बात यह है कि प्राचीन आर्य-जाति अप काम कर चुकी। उनके आदर्शों के द्वारा मानव-जाति उन्नति के पथ पर जितना अग्रसर होना था उतना वह अग्र हो चुकी। अब उनके आदर्शों की आवश्यकता नहीं है।

मैंने कहा—पर आदर्शों में तो एक चिरन्तन सत्य रह चाहिये। वे मानव-जीवन की पूर्णावस्था के द्योतक हैं।

रमेश ने कहा—यह सच है। परन्तु उस चिरन्तन सत्य अभिव्यक्ति तो किसी रूप में होनी चाहिये। वह रूप चिरस्थ नहीं है, तो भी उनके आदर्शों का गौरव बना रहता है।

मैंने पूछा—कैसे ?

रमेश ने कहा—संसार में भिन्न भिन्न जातियों का स उत्थान-पतन होता रहता है। कुछ काल तक किसी एक जा का प्राधान्य बना रहता है। परन्तु कुछ समय के बाद दूसरी ही जाति पहले का स्थान ले लेती है। प्राचीन क में जो जातियाँ उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच थीं, उनका गौरव अतीत काल की कथा-मात्र है। काल अनंत स्रोत में उनकी जीवन-धारा लुप्त हो गई है, परन्तु क के वक्षस्थल पर वे अपना अक्षय चिन्ह छोड़ गई हैं। संसार उनका अस्तित्व उठ गया, परन्तु संसार की गति को उन्ह जिस ओर परिवर्तित कर दिया था, उसी ओर उसको अग्र

होना पड़ा। जिन मार्गों पर चलकर मानव-जाति वर्त्तमान अवस्था को प्राप्त हुई है, वे मार्ग उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट किये गये थे। संसार के ज्ञानागार में उनकी भी संपत्ति रक्खी हुई है। आधुनिक सभ्यता का भवन उन्हीं की निर्मित भित्ति पर स्थापित है। उन्होंने अपने जीवन-काल में जो कुछ किया है, उसका प्रभाव अविनश्वर है। संसार में प्रत्येक जाति अपने इतिहास की रचना करती है। उसकी यह इतिहास-रचना या तो कर्मों के द्वारा होती है, या साहित्य और कला के द्वारा। मतलब यह है कि प्रत्येक जाति कर्म या साहित्य के द्वारा अपना इतिहास छोड़ जाती है। प्राचीन युग की अधिकांश जातियों ने कर्मों द्वारा अपना इतिहास निर्मित किया था। साहित्य और कला के लिये ज्ञान को जिस उन्नत अवस्था की आवश्यकता है, उस अवस्था तक वे नहीं पहुँची थीं। जब तक उनके कर्मों का प्रभाव प्रत्यक्ष रहा, तब तक उनका इतिहास भी बना रहा। परन्तु जब उनके कर्म लुप्त हो गये, तब उनका इतिहास भी नष्ट हो गया। प्राचीन युग में जिन जातियों ने कर्म-शक्ति के द्वारा अपनी सत्ता स्थापित की थी, उनका अब कोई ऐसा चिन्ह अवशिष्ट नहीं है, जिनके द्वारा हम उनकी यथार्थ अवस्था जान सकें। यदि कहीं उनके कृत्यों का वर्णन पाया जाता है तो उस वर्णन-मात्र से हम उनकी जीवन-शक्ति का पता नहीं पा सकते, जो उनके कृत्यों में प्रकट हुई थी। यह तभी संभव है, जब उस जाति का साहित्य और कला विद्यमान हो।

महेश ने कहा—प्राचीन काल में भारत, चीन, मिसर, ग्रीस और रोम उन्नत अवस्था में थे। प्राचीन काल में जो जातियाँ असभ्य समझी जाती थीं, उनका प्राबल्य मध्य-युग में हुआ। इस युग में मुसलमानों की विशेष श्रीवृद्धि हुई। उनका पतन होने पर आधुनिक योरप का आधिपत्य बढ़ा। इन तीन युगों में तीन

विभिन्न भावों की प्रधानता रही। प्राचीन युग में व्यक्तित्व की प्रधानता थी। मध्य युग में धर्म ने राजनीति को दवा लिया। वर्तमान काल में व्यवसाय और राजनीति का घनिष्ठ संबंध हो गया है। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि प्राचीन युग में व्यक्ति, मध्ययुग में समाज, और वर्त्तमान युग में राष्ट्र प्रबल हुए।

रमेश ने कहा—इतिहास के काल-विभाग की यह कल्पना भ्रामक हो सकती है। इसका कारण है मानव-जाति का स्वभाव-वैचित्र्य। प्रत्येक युग के भिन्न भिन्न आदर्शों में संघर्षण होने से समाज का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। कहा जाता है, अतीत काल की घटना वर्तमान काल में फिर अपने पूर्व रूप में आ जाती है। परन्तु इतिहास की सभी घटनाओं पर काल का प्रभाव ऐसा चिरस्थायी होता है कि कोई भी बात अपने पूर्व रूप में नहीं आ सकती। वृद्ध बालक का अभिनय कर सकता है, पर वह बालक नहीं हो सकता। मतलब यह कि मानव-स्वभाव की परिवर्तन-शीलता के कारण भिन्न-भिन्न युगों में तदनुकूल भिन्न-भिन्न आदर्श स्थिर होते हैं। परन्तु उन पर अतीत की छाया बनी रहती है। वर्तमान युग में प्राचीन काल का आदर्श स्वीकृत हो सकता है। पर परिवर्तित रूप में ही उसका अनुसरण किया जा सकता है। इसीलिये जब आप यह कहते हैं कि प्राचीन युग में व्यक्ति प्रधान था और मध्य-युग में समाज का, तब उसका मतलब यही है कि प्राचीन युग में व्यक्ति और समाज का संघर्षण था, और वही मध्ययुग में विद्यमान रहा। इस प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर, व्यक्ति और समाज का संघर्षण लुप्त नहीं हुआ। अब सभी देशों में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में संघर्षण हो रहा है।

महेश ने कहा—इसीलिये योरप और भारत के आदर्शों में बड़ा भेद हो गया है। योरप में सभ्यता का उद्गम सबसे पहले ग्रीस में हुआ। ग्रीस से ही ज्ञान प्राप्त कर रोम ने उसकी पुष्टि की। परन्तु उसके पहले बहुत से भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता को उन्नत अवस्था में पहुँचा दिया था। जब ग्रीक जाति संसार के इतिहास में प्रविष्ट हुई, तब भारत वैदिक युग को पार कर चुका था। ग्रीक साहित्य के आदि ग्रंथ इलियड की रचना के पहले भारतीय साहित्य में-वेद, उपनिषद् और दर्शन-शास्त्रों की रचना हो चुकी थी। जब ग्रीक जाति सभ्यता के प्रथम सोपान पर थी तब भारतीय आर्य गंभीर आत्म-तत्वानुसंधान में निरत थे। भारतीय और ग्रीक जाति के जीवन-विकास में लगभग एक हज़ार वर्ष का व्यवधान मानना पड़ेगा। ग्रीक-जाति का पतन होने पर रोम का अभ्युदय हुआ। इस प्रकार हम प्राचीन काल को तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं। पहले युग में भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता का प्रचार किया, दूसरे युग में ग्रीक जाति की सभ्यता का प्रसार हुआ और तीसरे युग में रोम की सत्ता बढ़ी। यह कहना कठिन है कि ग्रीक जाति पर भारतीय सभ्यता का कितना प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतवर्ष को ग्रीस से कितनी सहायता मिली। इसमें संदेह नहीं कि ज्ञान का आदान-प्रदान सदैव होता ही रहता है। प्राचीन काल में काल्डिया, मिसर आदि जो सभ्य देश थे, उनसे भी भारत का संबंध अवश्य था। तो भी यह निश्चित है कि भारत, रोम और ग्रीस ने जिस सभ्यता की सृष्टि की, उसका मूल उन्हीं के आत्मचिंतन का फल था।

रमेश के कहा—सभी सभ्यताओं में मनुष्य का कोई न कोई आदर्श पाया जाता है। उसी आदर्श पर उसके सामाजिक और

राजनीतिक जीवन का संगठन होता है। भारतवर्ष में आत्मा की संपूर्णता ही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का एक मात्र लक्ष्य था। इस आदर्श पर समाज का विभाग भी किया गया, जिससे विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों की संपूर्णता के लिये भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ निश्चित कर दी गईं। भारतवासियों ने व्यक्ति को प्रधानता देकर उस पर राष्ट्र और समाज का अधिकार कम कर दिया। राष्ट्र अथवा समाज व्यक्ति का प्रतिबंधक नहीं, प्रत्युत उसके इष्ट-साधन में सहायक था। राजा राष्ट्र-नियंता नहीं था, देश-रक्षा का उपाय मात्र था। श्रमविभाग के अनुसार राजा के हाथ में देश-रक्षा का भार सौंपा गया। परन्तु राजा पर समाज अवलंबित नहीं था। समाज की जीवन-शक्ति राज-सभा में नहीं, किंतु व्यक्तियों के समूह में थी। यही कारण है कि हिंदू-साम्राज्य का विध्वंस हो जाने पर भी हिन्दू-समाज छिन्न-भिन्न नहीं हुआ, और न उसकी चिरकालार्जित आदर्श-सम्पत्ति ही नष्ट हुई। प्राचीन भारत का वैभव उसकी पार्थिव क्षमता नहीं थी, यद्यपि उसकी यह क्षमता भी खूब बढ़ी-चढ़ी थी। प्राचीन भारत का गौरव आज तक अक्षुण्ण है, और वह है उसका आत्मिक विकास। उसके लिये आत्मा ही देखने, सुनने और मनन करने योग्य थी। उसने दूसरे देशों में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा कभी नहीं की। यही नहीं, उसने दूसरों को भी अपने वृहत् समाज में मिला लिया।

रमेश ने कहा—किंतु भारतीय आदर्श का अंतिम परिणाम यह हुआ कि देश की राजनैतिक शक्ति राजा में केन्द्रीभूत हो गई, और प्रजा राजभक्ति के आवेश में राजनीतिक सत्ता से उदासीन हो गई। हिन्दू-राजाओं में स्वेच्छाचारिता का अभाव अवश्य था। इसका कारण यह नहीं है, कि प्रजा उनकी राजनीतिक शक्ति में हस्तक्षेप करती थी। बात यह थी कि

राजा समाज से पृथक् नहीं था। वह उसका अंग था, और इसीलिये लोक-मर्यादा के विरुद्ध नहीं चल सकता था। जब कभी किसी राजा ने राजनीति के केन्द्र से वाहर आकर समाज पर आघात किया, तभी उसका विरोध किया गया। भारतीय इतिहास में प्रजाविद्रोह का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है, जिसमें प्रजा ने राजा की राजनीतिक सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया हो। मुसलमानों के शासनकाल में भी हिन्दू-प्रजा अपनी अवस्था से संतुष्ट थी। वर्तमान युग में जो अशांति फैली है उसका कारण यह है कि राजनीति का आदर्श ही परिवर्तित हो गया है और वर्तमान युग के लिये अभी तक ऐसा आदर्श निश्चित नहीं हुआ, जो इस विश्वव्यापी अशांति को दूर कर सके। हिन्दू-जाति के प्राधान्य-काल में भारतवर्ष कितने ही छोटे-छोटे स्वाधीन राज्यों में विभक्त था। उन सब राज्यों में राष्ट्रीय संबंध नहीं था। कभी-कभी कोई राजा अपने पराक्रम से अन्य राजा को वशीभूत कर चक्रवर्ती हो जाता था। परंतु उसकी प्रभुता अल्प-कालीन ही होती थी। राजनीतिक क्षेत्र में हिंदू-जाति ने रोमन लोगों की तरह कभी एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना नहीं की। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भारत में राष्ट्रीयता का अभाव रहा हो। भारत में राष्ट्रीयता थी, परन्तु वह राष्ट्रीयता राजनीतिक नहीं, धार्मिक थी। भारतवर्ष में ब्राह्मणों के शासन ने सारे समाज को एक ही भाव से संगठित कर दिया था। हिन्दू-नरेशों की क्षमता अप्रतिहत थी। उसका नियामक कोई राष्ट्रीय विधान नहीं था। इसका फल यह हुआ कि राजनीतिक सत्ता की ओर सर्वसाधारण में स्फूर्ति नहीं हुई।

मैंने कहा—इस आध्यात्मिक भावना की विवेचना श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अच्छी तरह की है। उन्होंने लिखा है—भारतीय

के लिये यह आवश्यक है कि सभी लोग एक ही उद्देश्य से उसके लिये प्रयत्न करें। परंतु उसके लिये व्यक्ति के आत्मिक विकास का बलिदान नहीं किया जा सकता। ग्रीस की अवनति का प्रधान कारण था उसकी नैतिक और आत्मिक उन्नति की असंपूर्णता। ग्रीस की आध्यात्मिक उन्नति उसकी आर्थिक उन्नति की अपेक्षा हीन ही रही। इसलिये जब व्यक्ति से राष्ट्र का संबंध घटने लगा, तब ग्रीस के जातीय जीवन में शिथिलता आने लगी, और अंत में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के विकास से ग्रीस की सभ्यता का भी लोप हो गया।

रमेश ने कहा—रोमन जाति में न तो हिंदू जाति की उद्भावना-शक्ति और परमार्थ-परता थी, और न ग्रीस जाति का सौंदर्य-बोध तथा भाव-वैचित्र्य। उनकी प्रकृति गंभीर थी। उनमें क्षमता थी, आत्म-शक्ति थी, परन्तु वह शक्ति नहीं थी, जो उन्हें ऐहिक वासनाओं से ऊँचा ले जा सकती। आध्यात्मिकता में वे सदैव हीन रहे। कहा जाता है, जब रोमुलस ने रोम की प्रतिष्ठा की तब उसने सभी दुश्चरित्रों को उसका अधिवासी होने के लिये निमंत्रित किया। इसमें संदेह नहीं कि ऐहिक सुख-संपत्ति की ओर ही रोमनों का लक्ष्य था। उनकी पारलौकिक दृष्टि इतनी स्थूल थी कि रोम के कितने ही विख्यात पुरुषों ने आत्महत्या कर ली। लिवी और सिसरो, लुक्रेशियस और वर्जिल, सिनेका और टेरेंस ग्रीस-प्रभाव के फल हैं। गणित और विज्ञान में उसने नये तथ्यों का अनुसन्धान नहीं किया। तब रोम ने संसार को क्या दिया? अरिस्टाटिल ने लिखा है कि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक जीव है। उसके लिये जिस प्रकार धर्म और सौंदर्य-बोध आवश्यक हैं, उसी प्रकार समाज-नीति और राजनीति की भी आवश्यकता है। जब तक मनुष्य अपने आप में संतुष्ट रहता है, तब तक उसकी कर्म-शक्ति का विकास

नहीं होता। हिन्दू और ग्रीक जाति के जीवन में समाजनीति
का अभाव था। रोमन जाति ने उस अभाव को दूर किया।

महेश—रोमन जाति के गौरव का वर्णन उसके एक कवि
ने इस प्रकार किया है—"हम जानते हैं कि संसार में ऐसी
जातियाँ हैं जो कठोर धातु को सौंदर्य-मय कर सकती हैं,
जो पत्थरों के हृदय से प्राण का विपुल उच्छ्वास खोजकर बाहर
निकाल सकती हैं, जो अपनी प्रतिभा से समस्त ब्रह्माण्ड का
ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं; उनमें कला-नैपुण्य है, और वाक्-
पटुता भी। परन्तु हे रोमन जाति, तेरा यह काम नहीं है; तेरा
काम है सभी जातियों पर शासन करना। यही तेरी शिल्पकला
है। तेरा गौरव इसी में है कि तू संसार में शांति का प्रचार करे।
जो गर्व से उद्धत हैं, उनको तू नतमस्तक करे, और जो पतित
हैं, उन पर तू दया दिखला।" यही रोम का गौरव है। रोम
ने स्वाधीनता के लिये व्यक्ति-स्वातंत्र्य का, राष्ट्र के मंगल के लिये
व्यक्ति की इच्छा और शक्ति का, निर्दय होकर दमन किया।
इसका फल यह हुआ कि व्यक्तिगत विकास का पथ अवरुद्ध हो
गया, और प्रतिभा का फूल अधखिला ही झड़ गिरा। परंतु
उसके बदले में रोम ने स्वाधीन राजतंत्र की नींव पर जातीय
एकता की स्थापना की। इस एकता का परिणाम यह हुआ
कि उसने संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। रोम
ने ग्रीस के नागरिक राज्यों को नष्ट कर एक विशाल साम्राज्य का
निर्माण किया। रोम की राजनीतिक सत्ता में यद्यपि जनसमूह
का प्रभाव था, तो भी वहाँ व्यक्ति-विशेष की प्रभुता अक्षुण्ण
रही। रोम ने संसार के अधिकांश भाग को अपने अधीन कर
लिया, तब उसका पार्थिव वैभव खूब बढ़ गया। इस वैभव
पर रोम के जनसमूह का भी अधिकार हो गया। जब समाज
के एक क्षुद्र अंश में संपत्ति केन्द्रीभूत हो जाती है, तब उसका

कितना विषमय फल होता है, यह रोम के इतिहास से स्पष्ट प्रकट है। रोम के सर्वसाधारण अपनी आर्थिक उन्नति और क्षमता के कारण मदोन्मत्त हो गये थे। उनकी पाशव प्रकृति और दुराचार की बातें पढ़कर घृणा होने लगती है। यह सच है कि रोम ने प्रजा-राज्य को जन्म दिया, उसने विद्या और विज्ञान की भी उन्नति की; परन्तु उसकी विजय-लालसा और क्षमता-वृद्धि से तत्कालीन समाज ने लाभ नहीं उठाया। हाँ, परवर्ती समाज ने उससे शिक्षा अवश्य ग्रहण की। ईसाई धर्म में सांसारिक वैभव का तिरस्कार किया गया है, और क्षमता के स्थान में प्रेम और सहनशीलता का आदर है। इसी धर्म ने योरप को सभ्यता का नवीन रूप दिखलाया। तब राज-नीति और समाज में धर्म का प्रभुत्व स्थापित हुआ। यही मध्य युग का प्रारंभिक काल है। शासक और शासित वर्ग, राजा और प्रजा, दोनों के लिये समाज ने एक मर्यादा निश्चित कर दी। पोप की शक्ति का प्रधान कारण यही था कि वह लोक-मर्यादा का संरक्षक समझा जाता था। योरप उसे पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि समझता था। पोप के व्यक्तित्व पर कोई शक्ति आरोपित नहीं की गई थी। शक्ति समाज की थी और पोप था उसका प्रतिनिधि। योरप में जो स्थान पोप का था, मुसलमानी साम्राज्य में वही स्थान ख़लीफ़ा को दिया गया। पर ख़लीफ़ा मुसलमानों की राजनीति और धर्म, दोनों का परिचालक था। यद्यपि वर्तमान युग में ख़लीफ़ा का वह राज-नीतिक प्रभुत्व नहीं रहा जो पहले था, तो भी धर्म में उसका प्रभाव अक्षुण्ण है।

प्राचीन हिन्दू-जाति ने संसार में दैवत्व शक्ति का अनुभव कर मनुष्य में अतीन्द्रिय (इंद्रियों से परे) ज्ञान की अज्ञेय-सत्ता का संकेत किया। उसने बतलाया कि कहीं भी जाओ, किसी

ओर देखो, सर्वत्र वही सत्य है। जल और स्थल में, औषधि
और वनस्पति में, पृथ्वी और अंतरिक्ष में, इह काल और पर
काल में, उसी सत्य का रूप व्याप्त है। उसी की प्राप्ति जीवन का
परम लक्ष्य है। इसीलिए हिन्दू-जाति ने तत्व-ज्ञान का विकास
किया। ग्रीक जाति ने इस माधुरीमय विश्व में सौंदर्य का
अनुभव किया। उसने सौंदर्य-रचना की कुशलता प्रकट कर
मनुष्य-हृदय की रूप-पिपासा को तृप्त किया, और उसी के
साथ विश्व-विमोहन की नित्यलीला को प्रकट किया। इसी से
ग्रीस में कला की उन्नति हुई। रोमन जाति ने ऋषि और कवि
की आत्मपरायणता का अतिक्रमण कर पृथ्वी पर कर्म-शक्ति
का प्रचार किया। भगवान् क्रियाशील हैं, उनका रूप सर्व-
मंगलविधायक शिवस्वरूप है। रोम के इतिहास में उसका यही
रूप प्रकट हुआ है। यदि यह कहा जाय कि मनुष्य का ज्ञान
दय और इच्छा-शक्ति से गठित है, तो ध्यान-परायण हिन्दू ने
ान का, सौंदर्य-पिपासु ग्रीक ने हृदय का और कर्मवीर रोमन
ने इच्छा-शक्ति का पूर्ण विकास किया है। इन तीन जातियों ने
भगवान के सत्य, सुन्दर और शिव-रूप को प्रदर्शित कर संसार
में सत्य को पूर्ण रूप से स्थापित किया है।

मैंने कहा—मध्य-युग में मुसलमानों की खूब श्रीवृद्धि हुई।
ातवीं शताब्दी में मुहम्मद ने अपना मत चलाया। जिन
ातियों में पहले संगठन के अभाव से शक्ति नहीं थी, उन्हें
के सूत्र में बाँधकर मुहम्मद ने संसार की सर्व-श्रेष्ठ जाति
दिया। मध्ययुग में मुसलमानों ने ही सर्वत्र विद्या और
ान का प्रचार किया।

मेश—मुसलमानों की उन्नति का सबसे बड़ा कारण यह
उन्होंने धर्म को राजनीति से पृथक् नहीं किया। बग़दाद

है उनका व्यवसाय। व्यवसाय के क्षेत्र में छोटे-बड़े सभी राष्ट्र एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं। संसार के व्यवसाय को अपने हाथ में करने के लिये अभी तक कई महायुद्ध हो चुके हैं। आधुनिक योरप का इतिहास एक व्यावसायिक युद्ध से आरंभ हुआ है। गत योरपियन महासमर का भी कारण यही प्रतियोगिता है। अपनी समृद्धि के लिये अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सम्पत्ति हड़प जाने में ज़रा भी संकोच नहीं करता। परन्तु राजनीतिक सत्ता से ही यह संभव नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली है; परन्तु व्यवसाय के क्षेत्र में वह अद्वितीय नहीं है। इसीलिये संसार में सर्वत्र अशांति है। भविष्य में क्या होगा यह कौन कह सकता है। पर इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान युग में क्रान्ति के स्पष्ट चिन्ह दिखलाई दे रहे हैं और धर्म और विज्ञान तथा प्राचीनता और नवीनता का विकट संघर्ष हो रहा है।

मैंने कहा—पर हम लोगों के विवाद संघर्ष का अन्त आज यहीं हो जाय।

---

# ५—लौकिक साहित्य

एक दिन मैंने देखा कि महेश बाबू ग्राम-गीतों के एक संग्रह-ग्रंथ को बड़े ध्यान से पढ़ रहे थे। मैंने उनसे कहा—महेश बाबू, क्या ग्राम-गीतों में भी आप कोई रस पाते हैं?

महेश बाबू ने कहा—आप लोग महाकवियों की कृतियों में निमग्न रह कर लौकिक साहित्य की सर्वदा उपेक्षा किया करते हैं। मेरी समझ में यह ठीक नहीं है। मैं तो यह मानता हूँ कि लौकिक साहित्य में ही जाति का प्राणोच्छ्वास विद्यमान रहता है। प्राणों के इस आवेग में जाति की जो एक आकांक्षा, सरलता और प्रेम-वेदना छिपी रहती है, वही जाति में नवीन शक्ति का संचार करती है। यह तो आप भी मानते हैं कि मनुष्य को महत् भाव की ओर अग्रसर कराने के लिये साहित्य की सृष्टि होती है, परन्तु भावों की महत्ता हम लोगों की चिरंतन भाव-धाराओं पर निर्भर है। लौकिक साहित्य उन्हीं चिरंतन भावों की पुष्टि करता है। वह साहित्य विद्वानों की सम्पत्ति नहीं है। उस पर कमात्र अशिक्षित जनों का अधिकार है। जब विद्वान् कला की ीमांसा में निरत रहते हैं तब सर्व-साधारण का परितोष इसी ाहित्य से होता है। विद्वानों को सर्वदा यह चिंता बनी रहती कि ज्ञान की धारा मलीन न होने पावे। इसीलिये वे विज्ञान क्षेत्र को पांडित्य की चहारदीवारी से घेर डालते हैं। उनका हित्य अगाध कूप का जल है जिसको प्राप्त करने के लिये एक ोष गुण की ज़रूरत होती है। परन्तु लौकिक साहित्य सर्व-ारण के लिये है। यह वह बहता हुआ नीर है जिससे जो जब चाहे अपनी प्यास बुझा सकता है। इसके लिये न तो गुण की जरूरत है और न पांडित्य और विद्वता की।

अपने पूर्वजों के कृत्यों का स्मरण करते थे, या जिन प्रेममय गानों को सुनकर क्षण भर उनका हृदय-स्पंदन रुक जाता था, या जिन कविताओं के द्वारा उनके हृदय में भक्तिभाव का उद्रेक होता था, वे सब अब कहाँ हैं? अब उनका अस्तित्व तक नहीं है, पर उन्हीं के आधार पर श्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई है।

रमेश ने कहा—जो चिरंतन लौकिक भाव हैं वे सभी जातियों में पाये जाते हैं। यही कारण है कि हम सभी देशों के आदिकाल के साहित्य में एक ही भाव की प्रधानता पाते हैं। यह भाव मनुष्य-जाति की समानता प्रकट करता है। देश और काल का व्यवधान होने पर भी मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही रहता है। अतएव वह जब कभी कहीं महत्ता देखता है तब उसके हृदय में भिन्न भिन्न भाव उदित होते हैं। कभी उसे विस्मय होता है, कभी वह आतंक में डूब जाता है, कभी भक्ति से उसका मस्तक अवनत हो जाता है और कभी आनंद से उसका हृदय भर जाता है। विस्मय, आतंक, भक्ति और आनंद, ये सब मनुष्य के अंतर्गत अनुराग के फल हैं। महत्ता पर मनुष्य का स्वाभाविक अनुराग है। इसीसे वह उसकी ओर आकृष्ट होता है और उससे जो जो भाव उत्पन्न होते हैं उसको वह बार बार अनुभव करने की इच्छा करता है। उसकी कभी तृप्ति भी नहीं होती।

मोहन ने कहा—यह सच है। मनुष्यों की यह प्रवृत्ति ही उसे सदा के अनंतकाल की ओर प्रेरित करती है। प्राचीन काल में प्रकृति की जिन विभूतियों में मनुष्य ने महत्ता का अनुभव किया, उनके प्रति उसका वह भाव सदैव नहीं बना रहा। जब तक उसके लिए प्रकृति की शक्ति रहस्यमयी थी तभी तक उसने उसमें महत्ता का अनुभव किया। ज्ञान की वृद्धि होने पर उसकी महत्ता का विचार भी परिवर्तित हो गया।

रमेश ने कहा—बात यह है कि जब मनुष्य अपनी कर्तृत्व-शक्ति का अनुभव करने लगता है तब वह प्रकृति को पराजित कर स्वायत्त करना चाहता है। अज्ञान के कारण प्रकृति में उसने जो शक्ति आरोपित की थी उसे वह अपने में ही देखना चाहता है। तब प्रकृति उसके लिये उपभोग्य हो जाती है और उसका चिरनवीन सौंदर्य उसकी कल्पना का विषय बन जाता है।

मैंने कहा—मध्ययुग में कवियों ने राजाओं को ही अपने काव्यों के नायक बनाये हैं। उसका कारण शायद यही होगा कि उन्होंने मानवीय शक्ति को ही एकमात्र वर्णनीय विषय समझा।

महेश ने कहा—जब मनुष्य मानवीय शक्ति में महत्ता देखने लगता है तब उसकी दृष्टि कहाँ जायगी? मध्ययुग में मनुष्य राजसभा में ही शक्ति की पराकाष्ठा देखता था। उस समय राजा ही मानवीय शक्ति का प्रतिनिधि था। जब तक देश में राज-शक्ति अक्षुण्ण रही तब तक राजा ही मनुष्य की कल्पना का आदर्श रहा। राजा का प्रेम, राजा का युद्ध, राजा की विजय, यही सर्वसाधारण के लिये महत् होना चाहिये। इसीलिये सभी देशों की प्राचीन कथाओं में राजा का ही वर्णन है। राजा को आदर्श मानकर मनुष्य उसमें अपनी समस्त इच्छाओं का चरम परिणाम देखना चाहता था। राजा को सबसे अधिक रूपवान होना चाहिये। उसमें शक्ति भी असाधारण हो। मनुष्यों में जो जो गुण हो सकते हैं उन सबका समावेश उसमें होना चाहिये। उसके लिये विलास की सामग्री भी अद्वितीय होनी चाहिये। यह सब कुछ होने पर भी कथाओं में राजा का जीवन सुखमय नहीं होता। उसे सभी प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। उसके शत्रु विकट होते हैं। परंतु अंत में वह स को पराभूत कर देता है। संकट में वह धैर्यच्युत नहीं होता

प्रलोभन में पड़कर उसकी मति भ्रष्ट नहीं होती। लौकिक साहित्य में जातीय पराभव की कथा नहीं प्रचलित होती। मनुष्य अपने नायक को आशा-निराशा, सुख-दुख और उत्थान-पतन के चक्र में पड़ा हुआ देख सकता है। पर उसका पराभव उसके लिये असह्य है। धर्म और कर्तव्य की वेदी पर वह अपने नायक को बलि होते हुए देख लेगा। परंतु यह पराभव नहीं, विजय है। यह पृथ्वी पर स्वर्ग की जय है। उससे पार्थिव शक्ति की अपेक्षा आत्मिक शक्ति की श्रेष्ठता सूचित होती है। उसके सिवा हिंदू-जाति एक अदृश्य शक्ति की विद्यमानता सदैव स्वीकार करती आई है। इस शक्ति के आगे मनुष्य का पुरुषार्थ कुछ काम नहीं करता। मनुष्य के उत्थान-पतन में यही शक्ति काम करती है। हिंदू-काव्यों में अभिशाप के द्वारा पृथ्वी की सबसे बड़ी शक्ति पराभूत हुई है।

रमेश ने कहा—प्राचीन कथाओं का एक प्रधान विषय प्रेम होता है। समाज में स्त्रियों का जो स्थान होता है उसी के अनुसार साहित्य में उनका चरित्र प्रदर्शित होता है। परंतु प्रेम की कथा सर्वदा एक सी बनी रहती है। प्राचीन भारतीय साहित्य में हम स्त्री के चरित्र का जो उत्कर्ष देखते हैं, वह हिंदी साहित्य में उपलब्ध नहीं है। मेरी समझ में तो हिंदी साहित्य में अभी तक किसी नारी चरित्र की सृष्टि ही नहीं हुई।

मैंने कहा इसका कारण यह है कि प्राचीन हिंदू-समाज में स्त्रियों का जो गौरवपूर्ण स्थान था वह मध्ययुग में नहीं रहा। [illegible] के काव्य में जो स्त्री-चरित्र अंकित हुआ है वह केवल पुरुष की इच्छा का सूचक है। तुलसीदास [illegible] भी [illegible] चरित्र में सर्वत्र पुरुष का [illegible] है, स्त्री-जाति का जो [illegible] हुआ है। हिंदू-काव्यों में प्रेम

का पर्यवसान विवाह में हुआ। कर्तव्य-ज्ञान-रहित लालसा को हिंदू-समाज में स्थान नहीं दिया गया।

मैंने कहा—पर हिंदी के परिवर्ती कवियों ने तो एक लालसा का ही चित्र अपने प्रेम-वर्णन में अंकित किया।

महेश ने कहा—उस चित्र का कारण है तत्कालीन मनुष्यों की भक्ति-भावना। हिंदी-साहित्य के आदि-काल में समाज सुव्यवस्थित हो गया। उस समय देश में राजसत्ता की ही समस्या थी। इसलिये तत्कालीन साहित्य में हमें समाज की संयतावस्था का चित्र मिलता है और असंयत राजशक्ति का। देश में क्षात्र-धर्म चैतन्य था। लोगों में स्वाधीनता के भाव प्रबल थे। उन्हें वीरत्व से प्रेम था। इसीलिये विलास-विभ्रम की ओर उनकी आकृष्टि नहीं हुई। मुग़ल-काल में जब समाज की असंयत अवस्था हो गयी तब मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ भी प्रबल हो गयीं। तब कवियों ने प्रेम-वर्णन में निर्बाध लालसा का ही चित्र अंकित किया। मैं तो देश की वर्तमान स्थिति में भी वही असंयत अवस्था देख रहा हूँ। आजकल आपके हिंदी साहित्य में उद्दाम लालसा और प्रबल प्रेम-वेदना के जो स्वर उत्थित हो रहे हैं उसका एकमात्र कारण यही है कि समाज की व्यवस्था भंग हो गई है। सर्वत्र एक उच्छृंखलता आ गई है। जब तक समाज का नव निर्माण नहीं होगा तब तक जाति में दुर्बलता ही रहेगी और निश्चेष्ट, क्रिया-हीन मनुष्यों को ऐसे ही गानों से सन्तोष हो सकता है जिनमें अतृप्ति, लालसा और वेदना के स्वर हों।

---

# ६—साहित्य और धर्म

एक बार मैंने महेश से पूछा—किसी भी जाति को लीजिए, उसके धार्मिक विश्वासों में ही उसकी श्रेष्ठ भावनाएँ रहती हैं। पर हमारे धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन होते रहते हैं। इसके सिवा भिन्न भिन्न धर्मों के भिन्न भिन्न आदर्श होते हैं। क्या धर्म का कोई सनातन रूप भी है जो सभी देशों और युगों में रहता है? पर धर्म और साहित्य का तो विकास भी होता है। इस विकास में क्या धर्म का कोई सनातन भाव विद्यमान रहता है?

महेश ने कहा—आदि-काल से मनुष्य-समाज में नीति और धर्म-संबंधी ज्ञान का परिचय पाया जाता है। पृथ्वी पर कोई ऐसी असभ्य जाति नहीं हुई, जिसमें इन दोनों भावों का अंकुर न देखा गया हो। इनके विकास पर ही समाज की स्थिति और उन्नति है। इन नैतिक भावों का लोप होने से समाज में उच्छृंखलता फैल जाती है। समाज के कल्याण के लिए मनुष्यों को

एक क्षण-स्थायी, आकस्मिक घटना-मात्र हो जाता है। परलोक का अस्तित्व मानने से कर्मफल भी संभव होता है। उसीसे मानव नीति के उच्च शिखर की ओर क्रमशः आकृष्ट होता जाता है। इस नीति-सोपान पर आरोहण कर अंत में ईश्वर के साथ योग स्थापित करना पड़ता है। सभी नीतियों के ऊपर ईश्वर का आसन है। नीति ईश्वर-प्रदत्त है। इसीसे मनुष्य उसे नतमस्तक हो स्वीकार कर लेता है। मतलब यह है कि धर्म-ज्ञान के तीन उपादान हैं—( १ ) ईश्वर-विश्वास ( २ ) अदृष्ट लोक पर विश्वास और ( ३ ) पाप की धारणा।

रमेश ने कहा—उच्च धार्मिक अथवा नैतिक अवस्था का एकमात्र कारण है प्रेम-भाव। जब मानव-जीवन में प्रेम का आविर्भाव हुआ तब मनुष्य की विकासोन्मुख आत्मा में पाप और पुण्य की धारणा का उद्गम होने लगा, परिवार का संगठन होने लगा, समाज-बंधन का आरंभ हुआ और निराकार भावों ने साकार भाषा का रूप ग्रहण किया। इसी समय मनुष्य का विकास उच्चतम अवस्था की ओर अग्रसर होने लगा। और शारीरिक विकास के साथ सभ्यता का संयोग हुआ।

महेश ने कहा—प्रेम की पराकाष्ठा अथवा अंतिम सीमा स लोक में नहीं है। इसीसे हम मानवीय आत्मा को, संसार े अस्थिर व्यापार छोड़कर, अज्ञात रूप से एक नित्य सत्ता ी ओर प्रयाण करते हुए देखते हैं। अदृष्ट जगत से एकता ापित करके मनुष्य अपने अंतर्गत भावों को निश्चित करने ी चेष्टा करने लगा। इसमें संदेह नहीं कि उसके मानसिक व पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सके। उसकी अभिव्यक्ति वलक्षणता भी थी, परन्तु मुख्य बात यह है कि जीवन के ारंभ-काल में ही मनुष्य एक अतींद्रिय नैतिक जगत् से अपना

अनुयायी सदैव बच बच कर चलते हैं, जिससे कभी नियम-भंग न हो जाय। नियम-पालन को ही धर्म मानने से कुछ ऐसा संस्कार हो जाता है कि जहाँ वह उन नियमों का अस्तित्व नहीं देखता, वहाँ उसके हृदय में तिरस्कार का भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि यहूदी जाति अपने धर्म-नियमों के जाल में फँस गई है। धर्म के क्षेत्र में समस्त मानव-जातियों को एकत्र करना और उनसे मेल रखना उसके लिये असंभव है। वर्तमान हिन्दू-समाज ने भी धर्म ही के द्वारा अपने को समस्त मानव-जातियों से पृथक् कर लिया है। जब कभी किसी देश में धार्मिक आंदोलन हुआ है, तब धर्म ने अपनी रस-मूर्त्ति को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। उसने सभी कठोर बंधनों को तोड़कर मनुष्य-जातियों को एक करने का प्रयत्न किया है। भगवान् ईसामसीह ने प्रेम और भक्ति का जो प्रवाह बहा दिया था वह यहूदी धर्म के कठिन शास्त्र-बंधन में आबद्ध नहीं हुआ। वह स्रोत अभी तक जातियों की स्वार्थ-शृंखला को तोड़कर मनुष्य को मनुष्य से मिलाने की चेष्टा कर रहा है। भगवान् बुद्ध की विश्व मैत्री और करुणा ने समस्त एशिया को एक कर दिया था। नानक, कबीर, चैतन्य, इन सभी साधकों ने इसी प्रवाह से मनुष्य के कृत्रिम प्राचीरों को ढहाकर मनुष्यत्व का एकत्व स्थापित किया था।

रवीन्द्र ने कहा—धर्मों की पर्यालोचना करने से यही विदित होता है कि सभी देशों में धर्म के प्रचारकों ने एक सत्य धर्म का आविष्कार कर उसके प्रचार के लिये आत्मोत्सर्ग किया है, तो भी धर्म में भेद-हीन एकता कभी स्थापित नहीं हुई। सभी धर्मों का संबंध किसी न किसी देश और काल से है। देश और काल से पृथक कर देने पर धर्म निष्प्राण हो जाता है। कारण यह है कि धर्म केवल नामों की समष्टि नहीं है। यदि नाम

का रहस्योद्‌घाटन ही धर्म का एक मात्र उद्देश्य होता, तो केवल ज्ञान-चर्चा में ही धर्म का स्वरूप उपलब्ध करना संभव हो जाता। रंतु धर्म की आवश्यकता सत्य की प्रतिष्ठा की अपेक्षा जीवन संगठन में है। यदि हम धर्म से अनुष्ठान को पृथक् कर दें ता धर्म में जो कुछ अवशिष्ट रहेगा, वह विज्ञान हो सकता है, दर्शन हो सकता है, पर धर्म नहीं हो सकता। ईश्वरीय ज्ञान देकर ही धर्म निश्चेष्ट नहीं रह सकता। उसका प्रधान कार्य है ईश्वर-प्राप्ति की चेष्टा। इसी उद्देश्य के साधन के लिये, पूजा, उपासना आदि जातीय अनुष्ठानों की सृष्टि होती है। प्रत्येक जाति अपनी अपनी श्रेष्ठ सम्पत्ति लेकर ईश्वर का सांन्निध्य प्राप्त करना चाहती है। मंदिरों के निर्माण में हिंदू अपनी समस्त शक्ति लगाकर उसी ईश्वर के विशाल ऐश्वर्य को देखना चाहते हैं जिसके लिये मुसलमान मसज़िदों में और ईसाई गिरजाघरों में प्रवेश करते हैं। इन सभी का उद्देश्य एक है, वह है ईश्वर से ानवात्मा का संयोग। किंतु सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कारों कारण एक ही उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये भिन्न भिन्न अनुष्ठान ीकृत हुए हैं। जो धर्म-तत्त्व अनुष्ठान और समाज से क् है, वह मानव-जीवन पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल ता। हमारी समस्त सत्ता को जागृत करके जो हमारे समस्त जीवन को तृप्त कर सकता है, वही धर्म है। धर्म के तत्त्व-मात्र से हमें तृप्ति नहीं हो सकती। विज्ञान अथवा दर्शन के द्वारा हम ईश्वर के स्वरूप को जान सकते हैं और उससे बुद्धि की तृप्ति ा सकती है। किंतु हमारे जीवन को संतोष नहीं हो सकता। ही कारण है कि सांख्य अथवा वेदांत, दोनों धर्म का स्थान हीं ले सके। ईश्वर को जान कर उससे संबंध स्थापित करने इच्छा होना स्वाभाविक है। हम अपने कर्म-जीवन में ईश्वर को प्राप्त करने के लिये उत्सुक रहते हैं। प्रेम, भक्ति या कर्म को

छोड़ कर और किसी से मनुष्य की तृष्णा नहीं बुझती। धार्मिक मनुष्य को स्वभावतः यह इच्छा होती है कि वह अपने समस्त जीवन में ईश्वर की इच्छा को पूर्ण और समस्त विश्व में उसका राज्य स्थापित करे। वह भगवान् की सेवा के लिये उत्सुक होता है। वह अपने सुख-दुख को अपने ही भीतर छिपा कर नहीं रखना चाहता। आनन्द में वह ईश्वर को अपने उस आनंद का साक्षी बनाना चाहता है। दुख में वह उसी के पास जाकर अपनी विपत्ति की कथा सुनाना चाहता है। जीवन में जो कुछ कर्म वह करता है उन सबों में वह भगवान् का सामीप्य चाहता है। यह भावोन्माद है। ज्ञान से इसका लोप हो सकता है। यह उन्माद मनुष्य को मोहावस्था में डाल देता है। परंतु इस मोहावस्था को वह इच्छा से बनाये रखना चाहता है। क्योंकि तभी उसके लिये ईश्वर सगुण और सजीव बना रहता। वह कभी ईश्वर को माता कहता, कभी पिता मानता और कभी मित्र समझता है। धर्म में यही भाव रहने के कारण सर्व-साधारण उसे उत्साह के साथ ग्रहण करते हैं।

शक्ति की ओर और रस की ओर। शक्ति की ओर होने से साधना का परिणाम है दृढ़ विश्वास। यह विश्वास ज्ञान की सामग्री नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व पर जो हमारा विश्वास है, वह अचल है। जिनका ऐसा अचल विश्वास है, वे किसी भी अवस्था में अपने को निराश्रय अथवा निस्सहाय नहीं समझते। यह विश्वास उनके लिये एक निश्चित आधार है। उसमें एक दृढ़ शक्ति है। जिनमें यह विश्वास का बल नहीं है, उनका कोई अवलंब नहीं है। जो उनके हाथ आता है, उसी को वे पकड़ने की चेष्टा करते हैं। और जब वह उनके हाथ से निकल जाता है तब उनको उसके खो जाने से भी सांत्वना नहीं मिलती। जिन धर्मों में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास रहता है उनके अनुयायियों में शक्ति रहती है, किंतु उद्वेग नहीं रहता। उनको यह दृढ़ निश्चय रहता है कि जीवन-यात्रा का एक गन्तव्य स्थान है, जहाँ उनकी यात्रा की समाप्ति है। यदि उनको अपने कर्मों का प्रत्यक्ष फल नहीं मिलता तो भी वे जानते हैं कि वे कर्म-फल से वंचित नहीं होंगे। विपरीत फल पाने पर भी वे उसके वैपरीत्य पर ध्यान नहीं देते। वे अपने इस विश्वास पर अटल रहते हैं कि कोई ऐसा भी स्थान है, जहाँ हम पूर्ण सत्य को उपलब्ध कर लेंगे। जीवन में हेर-फेर होता रहे, किंतु इस सत्य से कोई भी उन्हें वंचित नहीं कर सकता। जिसमें यह शक्ति, यह अदम्य विश्वास रहता है, वही दृढ़ विश्वासी है। वह उसी सत्य पर विश्राम लेता और उसी सत्य पर निर्भर होकर काम करता है।

यह सच है कि ईश्वर सत्य-रूप से सबको धारण करता और सबको आश्रय देता है। परंतु सत्य होने पर भी यही पूर्ण सत्य नहीं है। पृथ्वी खूब दृढ़ है। यदि उसमें यह कठिन दृढ़ता न होती, तो हम निस्संकोच होकर उसका आश्रय नहीं ले सकते

कि जिन की मानसिक अवस्था जितनी कम उन्नत होगी उनका सौंदर्य-बोध भी उतना ही संकुचित होगा।

रमेश ने कहा—यह सच है। हमारी सौंदर्य-भावना भी हमारी परिस्थिति पर निर्भर है। जो कवि हैं उनकी सौंदर्य-भावना उन्नत होनी ही चाहिये। ऐसे कवि बाह्य सौंदर्य का वर्णन करेंगे और अंतः सौंदर्य का भी। पशु, पक्षी, पहाड़, नदी तथा स्नेह, दया, करुणा, ममता, क्रोध, सभी कविता के विषय हैं। परंतु यदि कवि का सौंदर्य बहुत संकुचित है तो उसका वर्णन भी संकुचित होगा और उसका प्रभाव भी तुच्छ होगा। कवि की भावना को यदि हम हृदयंगम कर सकें तो उसकी रचना सफल हो गई।

कविता से कोई लौकिक लाभ नहीं। उसकी अपेक्षा विज्ञान, इतिहास और दर्शन-शास्त्र की चर्चा से देश और समाज का अधिक कल्याण है। कवि के कल्पित राज्य में रहने से किसी प्रकार की व्यावहारिक दक्षता नहीं आती—पर सच बात यह है कि मनुष्य-समाज से पृथक् कर देने पर कला का कोई मूल्य नहीं। सभी देशों और सभी कालों में कविता मनुष्य के दैनिक जीवन की सहचरी है, सामाजिक जीवन पर भी कविता तथा अन्य ललित कलाओं का प्रभाव बड़ा काम करता है। समाज में उच्च आदर्श स्थापित कर कविता चरित्र-गठन में सहायता करती है।

महेश ने कहा—प्राचीन ग्रीस में शिल्प, नाटक और संगीत आदर्श चरित्र-गठन के प्रधान उपादान माने गये हैं। युद्ध में न्याय-धर्म का पालन, सबलों के अत्याचार से दुर्बलों का उद्धार, स्त्री-जाति के प्रति सम्मान और एकनिष्ठ प्रेम की साधना आदि आदर्शों का प्रचार समाज में कविता के ही द्वारा हुआ है। अतएव समाज में अपना प्रभाव चिरस्थायी करके ही कवि अपने जीवन को सफल बना सकता है। जो कविता कुछ अल्प-संख्यक काव्य रसिकों के मनोविनोद के लिये है, जिसके भाव-सौंदर्य का रसास्वादन कर हम क्षणिक आनंद प्राप्त करते हैं। अथवा जो रचना चमत्कार से पूर्ण होकर भी मनुष्य के दैनिक जीवन में व्यवहृत नहीं होती वह कभी श्रेष्ठ स्थान नहीं पाती।

मैंने कहा—तो आप की दृष्टि में कवियों का कार्य क्षेत्र क्या है? कहा तो यह जाता है कि कल्पना ही कवि का कार्य क्षेत्र है, सत्य नहीं। उसे सौंदर्य से प्रयोजन है, ज्ञान से नहीं। भाव उसका लक्ष्य है, विवेक नहीं।

महेश ने कहा—काव्यों में भावों का आधिक्य
किया जाता है। परंतु क्या काव्य में

कलाओं में, सभी में भावों के समीकरण से चरम सत्य का ही विकास होता है। इसमें संदेह नहीं कि कविता का सत्य दर्शन-शास्त्र या विज्ञान का सत्य नहीं। कवि का काम दार्शनिक या वैज्ञानिक तथ्यों की व्याख्या करना नहीं है। वह तो उस सत्य को प्रत्यक्ष दिखलाता है जिसमें सौंदर्य और कल्याण निहित है। जहाँ सत्य की एकरूपता है वहाँ सौंदर्य की भी अंतिम सीमा है और उसी की प्राप्ति के लिये हम लोगों में सदैव व्याकुलता बनी रहती है। इसीलिये यदि कवि के हृदय से कोई गान उत्थित होता है तो उससे समस्त मानव-जाति की हृत्तंत्री पर विश्व-वेदना के स्वर उठ जाते हैं।

प्रचार हो रहा है। ऐसे कवियों की शक्ति परिमित भले ही हो, पर उन्होंने प्राचीन आदर्शों को तोड़कर साहित्य-क्षेत्र में एक क्रांति अवश्य ला दी है। राम और कृष्ण के लिये तुलसी और सूर हो गये। अब देखें, मज़दूरों और किसानों के लिये कब कोई तुलसी या सूरदास पैदा होते हैं।

# १५—क्षुद्र की महत्ता

एक दिन मैंने बड़े गर्व से अपनी कुछ कविताएं रमेश बाबू को दिखलाईं। मुझे विश्वास था कि मित्र की रचनाएँ समझकर वे उनकी कुछ प्रशंसा ही करेंगे। किन्तु रमेश बाबू ने इधर-उधर कुछ पन्ने उलट कर मेरी किताब रख दी और कहा—हिन्दी में कवियों का अभाव नहीं है, अभाव है उनकी रचनाओं के पाठकों का। मेरी समझ में यदि तुम स्वयं कवि बनने की चेष्टा न कर पाठक बनने की चेष्टा करो, तो उससे हिन्दी-साहित्य का

ले सका। फिर भी जब मैंने कुछ कवितायें लिखने की धृष्टता की तब रमेश बाबू ने स्मरण दिला दिया कि मुझमें ईश्वर-प्रदत्त कवित्व-शक्ति नहीं है।

रमेश बाबू ने हँसते हँसते कहा—आप लोग मेरे शब्दों को पकड़कर अपना पक्ष सबल नहीं कर सकते। क्या आप लोग यह नहीं मानते कि लोगों में एक स्वाभाविक प्रतिभा-शक्ति होती है?

महेश बाबू ने कहा—अवश्य। पर इस प्रतिभा-शक्ति पर एक मात्र कवियों का ही अधिकार नहीं है। मेरा तो यह कथन है कि सभी लोगों में—मनुष्य मात्र में—वह शक्ति विद्यमान है। यदि सभी लोग कवि नहीं हो सकते तो सभी लोग दार्शनिक या वैज्ञानिक भी नहीं हो सकते। मनुष्य-मात्र पर कुछ शक्ति, कुछ देश, कुछ काल और कुछ दूसरों का भी प्रभाव है।

रमेश बाबू ने कहा—यह सच है कि मनुष्य की स्वाभाविक शक्ति के विकास में देश, काल और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, परन्तु इससे हम यह तो नहीं कह सकते कि स्वाभाविक शक्ति है ही नहीं या यदि है भी तो वह उपेक्षणीय है।

महेश बाबू बोले—आप तो विकास को ही देखकर उसकी मूल-शक्ति का अनुमान कर सकते हैं। सम्भव है कि शेक्सपियर ं वैज्ञानिक भी होने की शक्ति रही हो, पर एक विशेष परि-स्थति में पड़कर वह नाटककार हो गया हो। कालिदास के ापय में प्रसिद्ध है कि वह महामूर्ख था। उसमें किसी ने भी वित्व का कोई लक्षण नहीं देखा था, पर वह अपने अध्यवसाय और परिश्रम से महाकवि हो गया। इसीलिये मैं मूलशक्ति को उपेक्षणीय समझता हूँ। किसान बीज को लेकर करेगा ही क्या, यदि उसके पास न उपयुक्त क्षेत्र है और न साधन।

पुष्टि होती है, समाज की रुचि परिवर्तित होती है और परिमार्जित भी। जब साहित्य-क्षेत्र में कोई महाकवि अवतीर्ण होते हैं तब हमें ऐसा जान पड़ता है कि ये आकाश में विद्युत् की भाँति प्रकट हो गये। पर बात ऐसी नहीं है। उनके पहले कितने ही क्षुद्र कवि उनके आने के लिये साहित्य में पथ बना जाते हैं। साहित्य के निशाकाल में कवि-खद्योत जो महत्त्व-पूर्ण काम चुपचाप कर रहे हैं उन पर हमारी दृष्टि जाती ही नहीं। पर वे उपेक्षणीय नहीं हैं।

मैंने कहा—देखिए रमेश बाबू, अब आपको इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं कम से कम कवि-खद्योत तो हूँ।

रमेश बाबू ने कहा—तथास्तु।

---